147

डॉ० ब्रह्मदत्त अवस्थी

८१४.८
ब्रह्म|सा

147

डॉ० ब्रह्मदत्त अवस्थी

८१४.८
ब्रह्म | सा

डा० ब्रह्मदत्त अवस्थी की इस पुस्तक में भारत देश की सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा सबन्धी स्थिति का जायजा लेते हुए पाठक के सामने मातृभूमि की एक सही और भास्वर तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास है। निबन्धो के 'अपनी धरती के आकाश तले', 'अकर्मण्यता की जंजीरो में जकड़ा देश', 'लोककर्त्तव्य के निर्वाह के साधन' 'राष्ट्र ? स्वरूप ? साधना ! समस्या' आदि शीर्षक संकेत देते है कि ये निबन्ध जन-भाषण-शैली मे हम कौन थे और क्या हो गये है पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हैं। लेखक ने मनुष्य को 'जीवन-मान की इकाई' कहा है और जीवन को कर्म की भागीरथी। भारत कर्मभूमि था वीरभूमि था। वही देश अब अकर्मण्य बन गया है असीम सम्पदा-शाली देश, एक लम्बी सांस्कृतिक परम्परा भूल चुका है। लोकतन्त्र यहाँ मूल्यहीन हो गया है। आज निरक्षर विधायक उसे अपने अँगूठों से ठेल रहे है। 'लोक कर्त्तव्य के निर्वाह का साधन' इस प्रकार की समस्याओ पर प्रकाश डालता है। 'जन चेतना के वाहक प्रेम चन्द' तथा अन्य निबध भी इस धारा की प्रेरक कड़ियाँ हैं। कुल मिलाकर पुस्तक उदबोधन शैली में लिखी गई देश की गाथा है। मैं लेखक को उसकी इस कृति के लिये बधाई देता हूँ।

डा० मोहन अवस्थी
डी फिल्, डी लिट्.
से नि प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

પરમ આત્મીય ભાઈ

શ્રી ડૉ૦ રામકુમારજી વર્મા

અધ્યક્ષ (હિન્દી વિભાગ)

પ્રયાગ વિશ્વ વિદ્યાલય

ને

સ્નેહ

[illegible]

૧-૪-૬૪

हिन्दुस्तानी एकेडेमी पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या .... ८१६.८ ....
पुस्तक संख्या .... क्रमा|सा ....
क्रम संख्या ...1०७31........

पत्र आवश्यक कार्यवाही हेतु

श्री डॉ० शैलेन्द्र कुमार जी वर्मा

प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)

प्रयाग विश्व विद्यालय ·

को

सेवार्थ

[illegible]

१ ४-६४

साहित्य समाज और भारतीयता

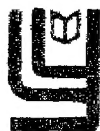
(निबन्ध-संग्रह)

का
र्थी
गते म
पुग क
नी के
श्रकडा
र
त हैं
कील
प्रकाए
न श्री
गिर्थ
दिशा
ती
है
न ति
हैं।
ए वं
ना के
श्रार
के
नं
र



साहित्य समाज और भारतीयता

ब्रह्मदत्त अवस्थी



प्रतिभा प्रकाशन

प्रथम संस्करण : १९९०

मूल्य : पैंसठ रुपये

प्रकाशक : प्रतिभा प्रकाशन
५११ के० एल०, कीटगंज
इलाहाबाद—२११००३

मुद्रक : अनुपम प्रिन्टर्स
नया बैरहना, इलाहाबाद

प्राक्कथन

श्री ब्रह्मदत्त अवस्थी का निबन्ध संग्रह 'साहित्य समाज और भारतीयता' मैंने देखा। भारत भाव को केन्द्र में रखकर ये निबन्ध लिखे गए हैं। लेखक भारत के गौरव को वर्तमान के दायित्व का घटक मानता है, वह गौरव के प्रति मोहासक्त भाव नहीं है। साथ ही वह भारत की वर्तमान दुरवस्था से बहुत पीडित है और बहुत ही सशक्त और मार्मिक शब्दों में अपनी व्यथा बखारना चाहता है।

मुझे विश्वास है लेखक के ये निबन्ध भारत की वृद्धि में सहायक होंगे।

विद्यानिवास मिश्र

ञ ी
बन्धी
ामने
नुन
न्नों
जक
ात्रु
केन्
म को
त्रक
ान इं
्वीर
ी दे
न्नी
का है
ान ि
है
ार
नना
प ध
क

अनुक्रम



अपनी धरती के आकाश तले

भौगोलिक भारत का उदय

सहस्रों वर्ष धरती का चाक घूमता रहा। प्रतिमा-निर्माण के लिये चाक पर, शक्ति के हाथों गूँथ कर रखी हुई मिट्टी, कुम्भकार की कुशल अँगुलियों की प्रतीक्षा करती रही और प्रकृति का कुम्भकार, ठोडी पर हाथ रखे, सुगढ़ प्रतिमा की कल्पना सँजोते में न जाने कब तक बैठा रहा। मस्तिष्क में कल्पना उभरी। हृदय उछल उठा। सशक्त अंगुलियाँ चलते ही चाक पर रखी मिट्टी से जा लगी। मूर्ति उभरी, उभरती गयी और उसे उभारने में अँगुलियों ने विश्राम नहीं लिया। तभी तो आज भी 'सरगमाथा' आकाश में ऊँचा-और-ऊँचा उठता जा रहा है। किस कुशलता से 'अगारा' और 'दकन' के अँगूठों का सहारा दे, हिमाद्रि को ऊँचाई दी, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया को दूर फेंक, सिन्धु सागर और गंगासागर को हहरती गहराई दी और दिया पूर्ण स्वस्थ शोभनतम शरीर, अपनी प्रिय कल्पना की प्रतिमा को।

आकाश को चूमने वाला अपना पर्वत, अतल गहराइयों को मापने वाला अपना सागर और ऊँचाई के गले, सागर के उफनते प्यारे जल-पुष्पों का हार पहनाने वाला, भारतीय प्रकृति का अपना अनूठा वर्षाक्रम-मानसून प्रतिमा को सौन्दर्य की देवी और सम्पन्नता का घर बनाने में जुट गये। ग्रीष्म में तप्त धरा की प्यास की पीर भला सागर कब और कैसे सहता। उफना, मेघों की गागर में अमृत-सा जल भर वर्षा का प्रथम चरण चला और चलता रहा जब तक हिमाद्रि के गले लग समग्र भारत की धरती को जल ने सिंचित नहीं कर दिया और धरती ने प्यार से उमंग अपने वक्षस्थल पर पुष्पों का सौन्दर्य और गन्ध बिखेर बस अंत-वसंत— नहीं कह दिया। यही ग्रीष्म से वसंत तक की मेघ-यात्रा, भारतीय काल की इकाई वर्ष बनी।

प्राचीनतम चट्टान, दकन पर नवीनतम कोमल कणों की चादर—गंगा-सिन्धु का मैदान लपेटे, सतत प्रवाहिनी सरिताओं—गंगा, सिन्धु ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, कावेरी की कल-कल ध्वनि से अचल खड़े शिखरों—महेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, रेवा, विन्ध्य, अरावली हिमाद्रि की घाटियों को, भरत भू-गुंजित करते

लगी। साइबेरिया का शीत हिमाद्रि पर आ डटा और सहारा की तपन राजस्थान की गोद में समा गयी। काबुल की वर्षा चेरापूँजी में मत्त हुई तो ईरान की शुष्कता अरावली की चट्टानों पर सिर धुनने लग गयी। भूमध्य सागर की फलवती सामर्थ्य भारत के आम, अमरूद, सेब और सन्तरे में आ बसी, इटली, फ्रांस और स्वीटजरलैण्ड के पुष्पों की गन्ध कमल, कुमोदिनी, बेला, जूही, चमेली और मालती में पैठ गयी। अमेरिका का गेहूँ, क्यूबा का गन्ना, पोलैण्ड का आलू, जापान का चावल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में पहले से ही भर गया। कौन सी मिट्टी, कौन-सी चट्टान, कौन-सी जलवायु और कौन-सी वनस्पति इस धरा ने अपनी सीमा में नहीं समेटी? सोना हो या लोहा, तेल हो या गैस, धरा ने अपना वक्षस्थल फाड़ मनुज की झोली में भर दिया है।

हिमाद्रि की विशाल भुजाओं—किरथर, सुलेमान, पटकोई, जयन्तिया, खासिया और सिन्धु की उत्ताल तरंगों के मध्य विस्तीर्ण ''स्थान'' हिमाद्रि के प्रथम अक्षर 'हि' तथा सिन्धु के अन्तिम 'अक्षरन्धु' को मिलाकर 'हिन्धु' शब्द से सम्बोधित हो 'हिन्दु स्थान' कहलाया; जिसमें भौगोलिक इकाई देश का पूर्ण प्राकट्य हुआ। काश्मीर जिसका किरीट है, उत्तर प्रदेश जिसका वक्षस्थल, पंजाब, सिन्धु उर्वशियम जिसकी भुजायें हैं और विन्ध्य जिसकी कटि, पश्चिमी तथा पूर्वी घाट जिसकी जंघाएं हैं और कन्याकुमारी जिसके चरण, नर्मदा जिसकी मेखला है और गंगा जिसका हार, ऐसा पावन मलयानिल से सुगन्धित स्वरूप है, इस प्रतिमा का जिसने विश्व को प्रकाश दिया, दिशा दी और गुरु कहलाया। तभी तो गद्गद् हो इसके वासी इसे पुकार उठे 'भारत'। 'भ' अर्थात् 'प्रकाश' 'आ' अर्थात् पूर्ण 'र' अर्थात् देना 'त' अर्थात् दूर-दूर तक। भारत के स्पष्ट अर्थ हुए वह स्थान जो विश्व को प्रकाश बिखेरता है। भारतवर्ष से तात्पर्य हुआ वह धरती जो विश्व को ज्ञान देती है तथा वर्णाक्रम की इकाई में आबद्ध श्रेष्ठ संस्कृति की रचना में लीन है।

सांस्कृतिक इकाई-भारत का विकास

इस धरती की गोद में, अनादि काल से मानव सुख-दुःख की अनुभूतियाँ सँजोता चला आया है। सुख देनेवाली वस्तुओं और परिस्थितियों से उसे लगाव तथा दुःख देनेवाली वस्तुओं और परिस्थितियों से उसे घृणा हुई है। प्रकृति—मानव के इसी संचार से नियत, संस्कार की सतत प्रवाहित भागीरथी, समाज को अपने पूत दर्शन, स्पर्श, मज्जन और पान से संस्कारित करती चली आयी है। प्रकृति की गोद में पड़े मनुष्य के चरण, प्रकृति के अंगुल-निर्देश पर ही चले हैं और वही उसकी संस्कृति हुई है। भारत की जलवायु में अमरता का संदेश है, कर्म का पाञ्-

है, आवागमन का सिद्धान्त है और परहित की सहज भावना है। जल-स्वरूप बदलता है पर अस्तित्व नहीं। सागर का जल सागर में ही विश्राम लेता है। आकाश में उड़ान तो उसकी यात्रा है। दूसरों को जीवन देता हुआ सतत प्रवाहमान रहने पर ही वह 'जीवन' है। भारत की विभिन्नता ही यहाँ की संस्कृति का वैशिष्ट्य 'समन्वय' समाज में भरती है। साधन विपुलता ही यहाँ के जीवन में करुणा, दया, क्षमा और दान कूट-कूट कर भर देती है। यहाँ के प्राकृतिक वातावरण ने ही मनुष्य को पशु के स्तर से उठा देवत्व के स्तर पर आसीन किया।

भारत माँ के प्यार में पले, सुख-दुःख की समान अनुभूति करते हुए अनादि काल से चले आये भारतीय समाज के सदस्यों ने जो संस्कार की थाती संजोयी है, वह विश्व की अमूल्य पूँजी है। यह, भारत माँ और उसके बेटों के मध्य वह पवित्र सम्बन्ध है जो संस्कारों में व्यक्त हुआ है। यही तो राष्ट्र का प्राण है। भारतीय संस्कृति के भवन की नींव गंगा, गायत्री, गीता और गौ पर खड़ी है। ज्ञान, कर्म, शील और सौन्दर्य जिसकी सुदृढ़ प्राचीरें हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की छत का जिसे संरक्षण है तथा विराजती है जिसमें उस विराट् की पावन प्रतिमा, जो सत्य है, सुन्दर है और शिव है।

भारतीय सत्य की खोज में लीन है। कण-कण में एकात्म स्थापित करता हुआ अद्वैत की अनुभूति करता है। परम का साक्षात्कार जड़-चेतन सभी इकाइयों में उसे होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सर्वेभवन्तु सुखिनः तभी तो उसके उद्घोष हैं।

मानव अन्तर प्रतिमा नहीं, जीवनमान इकाई है। मस्तिष्क में जिसके चिन्तन है। हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी इसी दिशा में लगी है। चरण गतिमान हैं और कर हैं कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्रश्वास लेना ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विषम चट्टानों को तोड़ती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन कर्म के समापन पर, सागर से गले जा लगती है। तभी तो भावन है, तभी तो पावन है और तभी है पूज्य।

हमने इस भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के स्वरूप में, तो कभी कृष्ण की काया में, कभी गौतम में, तो कभी गांधी में। इसमें विराट् का दर्शन है, समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का मन्त्र है, संगठन का तंत्र है।

रेंगना सीखे हैं। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझे हैं। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द 'नेशन' है। 'नेशन' प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पोप के विरुद्ध उभरा है, खलीफा के विरुद्ध उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्वबन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व को विकसित करता हुआ राष्ट्र से और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्वबन्धुत्व में सहकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक नहीं, साधक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और इसका साकार स्वरूप हमें नेशन से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में देखने को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। समानता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'रामराज्य' भला कौन नहीं चाहता ? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैहिक दैविक भौतिक तापा,
राम राज्य काहू नहिं व्यापा।

धर्माधारित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का दण्ड राजा पर भी चला है। राज्य व्यक्ति धर्म, समाज धर्म के साथ ही राष्ट्र धर्म में बँधा है। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को वन भेज देते हैं। राज्य का संचालन और युद्ध का नियमन भी मात्र कानून और नैतिकता के आधार पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धान्तों पर होता है। धर्म से तात्पर्य 'रेलीजन' से नहीं। धर्म पंथ, मत और सम्प्रदाय से भिन्न शाश्वत सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की धारणा होती है।

धर्माधारित राज्य और लोकनीति का स्वरूप भारत में सदैव देखने को मिला है। अतीत की गहराइयों में झाँकना, राम का काल हो, या कृष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, मूल्यों और समाज के आदर्शों के लिए सदैव समर्पित रही है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

—की भावना सत्ता पर बैठे व्यक्ति को जनहित के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने की प्रेरणा देती रही है। राम, राज्य को छोड़, राक्षसों से जूझने वन को चले जाते हैं। कृष्ण, द्वारिका छोड़ कुरुक्षेत्र आ पहुँचते हैं। अशोक युद्ध से घृणा कर शस्त्र त्याग देते हैं। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अर्जित सम्पदा दान कर देते हैं। चाणक्य, सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते हैं। क्यों ? केवल देश के लिए।

रेंगना सीखे है। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझे हैं। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द 'नेशन' है। 'नेशन' प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पोप के विरुद्ध उभरा है, खलीफा के विरुद्ध उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्वबन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व को विकसित करता हुआ राष्ट्र में और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्वबन्धुत्व में सहकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक नहीं, साधक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और इसका साकार स्वरूप हमें नेशन से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में देखने को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। समानता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'रामराज्य' भला कौन नहीं चाहता ? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैहिक दैविक भौतिक तापा,
राम राज्य काहू नहिं व्यापा।

धर्माधारित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का दण्ड राजा पर भी चला है, राज्य व्यक्ति धर्म, समाज धर्म के साथ ही राष्ट्र धर्म से बँधा है। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को वन भेज देते हैं। राज्य का संचालन और युद्ध का नियमन भी मात्र कानून और नैतिकता के आधार पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धान्तों पर होता है। धर्म से तात्पर्य 'रेलीजन' से नहीं। धर्म पंथ, मत और सम्प्रदाय से भिन्न शाश्वत सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की धारणा होती है।

धर्माधारित राज्य और लोकनीति का स्वरूप भारत में सदैव देखने को मिला है। अतीत की गहराइयों से झाँकता, राम का काल हो, या कृष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, मूल्यों और समाज के आदर्शों के लिए सदैव समर्पित रही है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

—की भावना सत्ता पर बैठे व्यक्ति को जनहित के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने की प्रेरणा देती रही है। राम, राज्य को छोड़, राक्षसों से जूझने वन को चले जाते हैं। कृष्ण, द्वारिका छोड़ कुरुक्षेत्र आ पहुँचते हैं। अशोक युद्ध से घृणा कर शस्त्र त्याग देते हैं। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अर्जित सम्पदा दान कर देते हैं। चाणक्य, सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते हैं। क्यों ? केवल देश के लिए।

लगी। साइबेरिया का शीत हिमाद्रि पर आ डटा और सहारा की तपन राजस्थान की गोद में समा गयी, कांगो की वर्षा चेरापूंजी में मत्त हुई तो ईरान की शुष्कता अरावली की चट्टानों पर सिर धुनने लग गयी। भूमध्य सागर की फलवती सामर्थ्य भारत के आम, अमरूद, सेव और सन्तरे में आ बसी, इटली, फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड के पुष्पों की गंध कमल, कुमोदिनी, बेला, जूही, चमेली और मालती में पैठ गयी। अमेरिका का गेहूँ, क्यूबा का गन्ना, पोलैण्ड का आलू, जापान का चावल पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में पहले से ही भर गया। कौन-सी मिट्टी, कौन-सी चट्टान, कौन-सी जलवायु और कौन-सी वनस्पति इस धरा ने अपनी सीमा में नहीं समेटी। सोना हो या लोहा, तेल हो या गैस, धरा ने अपना वक्षस्थल फाड मनुज की झोली में भर दिया है।

हिमाद्रि की विशाल भुजाओं—किरथर सुलेमान, पटकोई जयन्तिया, खासिया और सिन्धु की उत्ताल तरंगों के मध्य विस्तीर्ण "स्थान" हिमाद्रि के प्रथम अक्षर 'ही' तथा सिन्धु के अन्तिम 'अक्षरन्धु' को मिलाकर 'हिन्दु' शब्द से सम्बोधित हो 'हिन्दु स्थान' कहलाया, जिसमें भौगोलिक इकाई देश का पूर्ण प्राकट्य हुआ। काश्मीर जिसका किरीट है, उत्तर प्रदेश जिसका वक्षस्थल, पंजाब सिन्धु उर्वशियम, जिसकी भुजाएँ हैं और विन्ध्य जिसकी कटि, पश्चिमी तथा पूर्वी घाट जिसकी जंघाएँ हैं और कन्याकुमारी जिसके चरण, नर्मदा जिसकी मेखला है और गंगा जिसका हार, ऐसा पावन मलयानिल से सुगन्धित स्वरूप है, इस प्रतिमा का जिसने विश्व को प्रकाश दिया, दिशा दी और गुरु कहलाया। तभी तो गद्गद् हो इसके वासी इसे पुकार उठे 'भारत'। 'भ' अर्थात् 'प्रकाश' 'आ' अर्थात् पूर्ण 'र' अर्थात् देना 'त' अर्थात् दूर-दूर तक। भारत के स्पष्ट अर्थ हुए वह स्थान जो विश्व को प्रकाश बिखेरता है। भारतवर्ष से तात्पर्य हुआ वह धरती जो विश्व को ज्ञान देती है तथा वर्षक्रम की इकाई में आबद्ध श्रेष्ठ संस्कृति की रचना में लीन है।

सांस्कृतिक इकाई:भारत का विकास

इस धरती की गोद में, अनादि काल से मानव सुख-दुःख की अनुभूतियाँ सँजोता चला आया है। सुख देनेवाली वस्तुओं और परिस्थितियों से उसे लगाव तथा दुःख देनेवाली वस्तुओं और परिस्थितियों से उसे घृणा हुई है। प्रकृति—मानव के इसी मथन में नियत, संस्कार की सतत प्रवाहित भागीरथी, समाज को अपने पूत दर्शन, स्पर्श, मज्जन और पान से संस्कारित करती चली आयी है। प्रकृति की गोद में पड़े मनुष्य के चरण, प्रकृति के अगम्य-निर्देश पर ही चले हैं और वही उसकी संस्कृति हुई है। भारत की जलवायु में अमरता का संदेश है, कर्म का पाठ

है आवागमन का सिद्धान्त है और परहित की सहज भावना है। जल-स्वरूप बदलता पर अस्तित्व नहीं। सागर का जल सागर में ही विश्राम लेता है। आकाश में उड़ान तो उसकी यात्रा है। दूसरों को जीवन देता हुआ सतत प्रवाहमान रहने पर ही वह 'जीवन' है। भारत की विभिन्नता ही यहाँ की संस्कृति का वैशिष्ट्य 'समन्वय' समाज में भरती है। साधन विपुलता ही यहाँ के जीवन में करुणा, दया, क्षमा और दान कूट-कूट कर भिरो देती है। यहाँ के प्राकृतिक वातावरण ने ही मनुष्य को पशु के स्तर से उठा देवत्व के स्तर पर आसीन किया।

भारत माँ के प्यार में पले, सुख-दु ख की समान अनुभूति करते हुए अनादि काल से चले आये भारतीय समाज के घटकों ने जो संस्कार की थाती संजोयी है, वह विश्व की अमूल्य पूँजी है। यह, भारत माँ और उसके बेटों के मध्य वह पवित्र सम्बन्ध है जो संस्कारों में व्यक्त हुआ है। यही तो राष्ट्र का प्राण है। भारतीय संस्कृति के भवन की नींव गंगा, गायत्री गीता और गौ पर खड़ी है। ज्ञान, कर्म, भक्ति और मानत्व जिसकी सुदृढ़ प्राचीरें हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की छत का जसे संरक्षण है तथा विराजती है जिसमें उस विराट् की पावन प्रतिमा, जो सत्य है, सुन्दर है और शिव है।

भारतीय सत्य की खोज में लीन है। कण-कण में एकात्म स्थापित करता हुआ अद्वैत की अनुभूति करता है। परम का साक्षात्कार जड़-चेतन सभी इकाइयों में उसे होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सर्वेभवन्तु सुखिन तभी तो उसके उद्घोष हैं।

मानव प्रस्तर प्रतिमा नहीं, जीवनमान इकाई है। मस्तिष्क में जिसके चिन्तन है। हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी सी दिशा में लगी है। चरण गतिमान हैं और कर हैं कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्रश्वास लेना ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विषम तटों को तोड़ती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन क्रम के समापन पर, सागर से गले जा लगती है। तभी तो पावन है, तभी तो जीवन है और तभी है पूज्य।

हमने इस भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के स्वरूप में, तो कभी कृष्ण की काया में, कभी गौतम में, तो कभी गांधी में। इसमें विराट् का दर्शन है, समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का मंत्र है, संगठन का तंत्र है।

यही गो है चेतना का सत्य। समाज इसी के विकास का फल है। स्वभाव के अनुकूल चेतना सृजन करती है और स्वभाव के प्रतिकूल विध्वंस। अहम् से संचालित चेतना, विनाशवाहिनी है और करुणा से प्लावित वह मुक्ति-दायिनी।

चेतनावाहक 'समाज' की प्रकृति अपनी धरती की गोद में बनती और बिगड़ती है। भारत की धरती कर्म की धरती है, धर्म की धरती है। निर्माण यहाँ का स्वभाव। भारतीय चेतना, द्वारा अबाध गति से पाषाणों को तोड़ती, घाटियों को लाँघती, तूफानों से लड़ती चली आ रही है। आस्था इसकी डगर है और विश्वास इसका पड़ाव। न भटकाव है, न विभ्रम।

इसी विश्वास को लिये, विश्व की अपनी आत्मीयता की परिधि में बाँधती रही है, भारतीय संस्कृति। धरती की छत 'पामीर' को लाँघता हुआ, सागर को चीरता हुआ, महात्मा बुद्ध का संदेश चीन और जापान जा पहुँचा। वेदान्त दर्शन जर्मनी की धरती को भा गया। 'मनु' इण्डोनेशिया में न्याय के देवता हुए, जावा सुमात्रा से लेकर मैक्सिको तक राम और कृष्ण विराज गये। 'राम-सिया' का उत्सव रामलीला का ही एक रूप है, जो इन्डोनेशिया में, मैक्सिको में उल्लास के साथ सम्पन्न होता है।

भारत का चिन्तन विश्व के लिए आदर्श बना। गीता पूर्व से पश्चिम सभी देशों में दिशा-बोध देने लगा। रामायण और मानस में वर्णित लोक-राज्य लोकतंत्र का आधार हुआ। गांधी का स्वप्न इसीलिए मात्र लोकतंत्र नहीं 'रामराज्य' था। उनका लक्ष्य चुनाव तंत्र और कुर्सी तंत्र नहीं, लोकेच्छा द्वारा नियंत्रण और लोकेच्छा-सम्मान था। पश्चिमी जगत् का 'राजनीतिक प्राणी' और 'आर्थिक प्राणी' का नारा थोथा और मूल्यहीन प्रमाणित हुआ। पूर्ण मानव का विकास हमारा आदर्श रहा। मस्तिष्क जिसका प्रखर हो, हृदय जिसका विशाल हो, आत्मा सबल हो, काया सशक्त हो और भारतीय गुणों को अपने में समाहित कर भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करने और समाज का योग्य घटक बनने में सक्षम हो, वही मानव का सही स्वरूप है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ अभावों से दूरी रख, समाज के लिए समर्पित भी हो, समाज की व्यक्ति अपेक्षा रही।

राजनीतिक इकाई-भारत की व्यवस्था

समय का चिन्तन करने वाली इस सांस्कृतिक धारा का व्यवस्थित समाज का संगठन चाहिए और व्यवस्था के लिए राजनीतिक इकाई 'राज्य' का विकास भारत में उस काल में ही हो चुका था, जबकि पश्चिमी देश तन ढकना और भोजन बनाना भी न सीख पाये थे। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की बात तो छोड़िये, इंगलैण्ड और अमेरिका भी अभी दसवीं और सोलहवीं शताब्दी में राजनीति की डगर पर

देखना सीखे हैं। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझते हैं। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द 'नेशन' है। 'नेशन' प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पोप के विरुद्ध उभरा है, खलीफा के विरुद्ध उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्वबन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व को विकसित करता हुआ राष्ट्र में और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्वबन्धुत्व में सहकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक नहीं, साधक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और इसका साकार स्वरूप हमें नेशन से सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में देखने को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। समानता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'रामराज्य' भला कौन नहीं चाहता ? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैहिक दैविक भौतिक तापा,
राम राज्य काहू नहिं व्यापा।

धर्माश्रित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का दण्ड राजा पर भी चला है। राज्य व्यक्ति धर्म, समाज धर्म के साथ ही राष्ट्र धर्म में बँधा है। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को वन भेज देते हैं। राज्य का संचालन और युद्ध का नियमन भी मात्र कानून और नैतिकता के आधार पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धान्तों पर होता है। धर्म से तात्पर्य 'रेलीजन' से नहीं। धर्म पंथ, मत और सम्प्रदाय से भिन्न शाश्वत सिद्धान्त है जिससे व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की धारणा होती है।

धर्माधारित राज्य और लोकनीति का स्वरूप भारत में सदैव देखने को मिला है। अतीत की गहराइयों में झाँकता, राम का काल हो, या कृष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, मूल्यों और समाज के आदर्शों के लिए सदैव समर्पित रही है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

—की भावना सत्ता पर बैठे व्यक्ति को जनहित के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने की प्रेरणा देती रही है। राम, राज्य को छोड़, राक्षसों से जूझने वन को चले जाते हैं। कृष्ण, द्वारिका छोड़ कुरुक्षेत्र आ पहुँचते हैं। अशोक युद्ध से घृणा कर शस्त्र त्याग देते हैं। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अर्जित सम्पदा दान कर देते हैं। चाणक्य, सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते हैं। क्यों ? केवल देश के लिए।

केवल समाज के लिए। केवल मानव-मूल्यों के लिए। राणा और शिवा का विदेशियों से संघर्ष क्या सत्ता-प्राप्ति के लिए संघर्ष रहा है? नहीं। देश की रक्षा के लिए समाज-सम्मान की रक्षा के लिए, निराशा में डूबते हिन्दू-समाज का जीवन को ललक रज्जु देकर जीने की कला सिखाने के लिए, उनका संघर्ष था।

राज्य कभी साध्य नहीं, साधन है। राज्य जीवन सर्वस्व नहीं, समाज जीवन में मात्र एक संस्था है जिसकी व्यवस्था की बागडोर सदैव विद्वत् और समर्पितजनों के हाथ में रही है। चाहे विश्वामित्र हों या कृष्ण, समर्थ गुरु रामदास हों या चाणक्य, सभी समाज की आकांक्षा और हित के अनुकूल राज्य का मार्गदर्शन करते रहे हैं। यही रहा है, लोक-इच्छा का शासन पर नियंत्रण, यही रहा है लोक-इच्छा का राजा द्वारा सम्मान।

भारतीय राजनीति मात्र समाज को स्वतन्त्रता देकर ही निश्चिन्त नहीं, समाज को परम वैभव की उपलब्धि कराने के लिए कृत संकल्प है। व्यक्ति का पूर्ण विकास उसका दायित्व है, अभावों से मुक्ति उसका लक्ष्य है, धर्म का पालन उसका ध्येय है और वह भी अंकुशविहीन रहकर नहीं, अपितु लोक समर्पित गुरुजनों का अंकुश और निर्देश मानते हुए।

भारत की भौगोलिक इकाई, संस्कृति की पावन धारा में एकता और एकात्मता के सूत्र में बँधती हुई राष्ट्र के रूप में विकास पाती है और राजनीति की इकाई 'राज्य' उसका संरक्षण करती है। भारत में, भारत कभी भूमि का टुकड़ा नहीं बना, मातृभूमि बन पूजित हुआ है। भोग की धरती नहीं बना, कर्म का उपास्य क्षेत्र बन निर्माण को अभिव्यक्ति देता रहा है। इसीलिए विश्व में मिस्र और रोम जैसे राज्य तो काल के अन्धकार में विलीन हो गये परन्तु भारत सहस्रों वर्ष विदेशी आक्रमण झेलता हुआ भी अपने स्वरूप में विद्यमान है। प्लेटो, अरस्तू, रूसो, हाब्स, लाक, अगस्टाइन, मैकाविले वहाँ कहीं भी व्यास, कृष्ण, वाल्मीकि, मनु, पाराशर, याज्ञवल्क्य, चाणक्य शिवा, अरविन्द, मानवेन्द्र गाँधी, दीनदयाल के निकट भी चिन्तन में नहीं ठहरते। यों भी कैसे? पश्चिम सोचता है मात्र भौतिक स्वरूप—रूस रोटी का, इंग्लैण्ड व्यापार का, अमेरिका राजनीति का, फ्रांस वैभव का। भारत सोचता है मानव और समाज का पूर्ण विकास। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और वह भी प्रत्येक अंग में—मन, मस्तिष्क, हृदय, आत्मा, शरीर। इसीलिए व्यक्ति को परिवार के लिए परिवार को राष्ट्र के लिए और राष्ट्र को विराट् के लिए समर्पित करने का भाव यहाँ जागता रहा है।

[............गगन चुम्बी हिमाद्रि की ऊँचाई, पाताल को नापती सागर की गहराई, तप्त तवे सा तपता राजस्थान, हिम से गलता कैलाश, बूँद-बूँद जल के लिए

तरसता अरावली और सतत मेघधारा से नहाता बंगाल, सौन्दर्य का घर कश्मीर और शौर्य की गाथा मेवाड़, ज्ञान का मन्दिर बंग और धर्म की धरती अवध—क्या नहीं है इस भारत में ? फिर भी हम निर्धन हैं—

(भारत निर्धन लोगों से बसा एक धनी देश है) किन्तु भारत के स्वर्णिम अतीत पर विपन्नता का स्वरूप (अब) शोभा नहीं देता' ....]

सम्पन्नता की धरती—

स्वभाव के अनुकूल, प्रकृति के हाथों विकास पाती हुई, भारत भूमि भला स्वर्ग-सी क्यों न सँवरती, वैभव इसके चरणों पर क्यों न लोटता और देख यहाँ आने वालों को क्यों न ललचाते। विश्व की दृष्टि 'सोने की चिड़िया' भारत पर गड़ कर रह गयी। वास्कोडिगामा सागर के थपेड़े झेलता हुआ कालीकट के तट पर आ लगा। फाह्यान और ह्वेनसांग को भारत का आकर्षण खींच लाया। सिकन्दर, नादिरशाह, गजनवी, गोरी स्वर्ण की ललक में बंधे भारत की धरती पर टूट पड़े और सोने-चाँदी के अम्बार अपने देश को ढो ले गये। ललचायी दृष्टि से अंग्रेजों ने देखा फ्रेंच और पुर्तगालियों ने चाहा और व्यापार का बहाना ले भारत में आ जमे। सैकड़ों वर्ष यहाँ की सम्पदा को लूटा यहाँ की सामर्थ्य को चूसा, यहाँ का भविष्य अपनी मुट्ठी में बाँधा और विश्व के आकाश पर छा गये। रत्नों का देश कंगाल हो गया, स्वर्ण का स्वामी भिखारी बन गया। सम्पदा का घर उजड़ गया। सन् १९४७ ई० का साहूकार देश आज विश्व का कर्जदार बन गया। ४७ में अंग्रेजों पर भारत के ४०० करोड़ रुपये शेष थे और आज भारत पर ४८८८ करोड़ रुपये कर्ज है। दानी भिखारी बन, दर-दर भीख का कटोरा ले पहुँचता है और भीख पर पल कर लज्जा में डूबता नहीं है, हर्ष से फूल उठता है। पशु से कहीं अधिक निर्लज्ज बन गया है भारतीय।

गंगा, ब्रह्मपुत्र सिन्धु का मैदान, सात लाख वर्ग किलोमीटर में विस्तीर्ण-विश्व का सबसे अधिक उपजाऊ मैदान ही नहीं वरन अकेले ही विश्व का पेट भरने में समर्थ है। पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार का गेहूँ, बंगाल, असम और बिहार का चावल, खाद्यान्न से देश की झोली भर देता है। पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट के मैदान चावल और नारियल के अम्बार लगा देते हैं। काली मिट्टी का प्रदेश खान देश, कपास देता है, जिसके बल पर ही इंग्लैण्ड का वस्त्र उद्योग विकसित हुआ। गन्ना और चाय उत्पादन में भारत के समक्ष कोई दूसरा देश नहीं।

कभी नन्दन वन, अशोक वन, मलय वन, वृन्दावन भारत के सौन्दर्य और वैभव के घर थे। लकड़ी, औषधि, फल-फूल से धरती को पाट देते थे। ऋषियों के आश्रम यहीं तो थे, चिन्तन और मनन की भूमि यहीं तो थी। आज भी भारत

की धरती का २३ प्रतिशत क्षेत्रफल वन से ढँका है । साल, सागौन, शीशम चीड़, नीम, चन्दन की मूल्यवान् लकड़ी और औषधियाँ, लाख, रंग, गोंद, पत्ती, फल-फूल भारत को वन से प्राप्त होने वाली मूल्यवान् निधियाँ हैं ।

कल-कल कर बहने वाली सतत् प्रवाहिनी सरिताओं का जल, भारतीय धरातल पर छाया है । सिन्धु, सतलज, रावी, चिनाव, झेलम, व्यास, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती आदि ऐसी नदियाँ हैं, जिनकी जलराशि केवल सिंचाई के लिए ही नहीं, अपितु आज के युग में ऊर्जा का प्रमुख साधन—जल-विद्युत के लिए पर्याप्त भण्डार है । विश्व के किसी भी देश में इतनी सरिताओं का जाल नहीं ।

पेट्रोलियम—आधुनिक युग की शक्ति-संघर्ष का कारण बन रहा है । पेट्रोलियम के देश विश्व को अपने संकेतों पर नचा रहे हैं । भारत भी अरब देशों का गुणगान करने में लगा है । कितना विचित्र है ? जो देश मिट्टी के तेल के सागर पर तैर रहा है, वह अपनी पूँजी भूल कर दूसरों के थोड़े-से तेल के लिए मुँह ताक रहा है । पंजाब से लेकर असम तक, बम्बई से लेकर बंगाल तक जहाँ कभी टिथीज सागर हिलोरें ले रहा था, जीवांश के दबने से अपरिमित तेलराशि हिलोरें ले रही हैं ।

अणुशक्ति की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं, उसका विकास हुआ है । सौर्य ऊर्जा की ओर ध्यान गया है । ज्वार-भाटा से ऊर्जा प्राप्त करने का प्रयास चला है । शक्ति का अपार विस्तार है, बस उसे चेरी बना जनहित में लगाने का प्रश्न है । कोयले का भी अभाव नहीं ।

अपना वक्षस्थल फाड़ अपने बेटों के लिए, धरती सम्पदा उड़ेल रही है । सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, अभ्रक कौन-सा खनिज है जिसे भारत की धरती ने उगला नहीं । अभी तक कोलार की खान ही सोना उगलती थी, सोनार की घाटी भी सोना उगलेगी । धरती का कण-कण खनिज से पूर्ण है, आवश्यकता तो उसके पारखी की है ।

भारत की नदियों में सतत् प्रवाहित अथाह जलराशि, अपार जलविद्युत की सामर्थ्य (४११ लाख किलोवाट) अणुशक्ति की प्रचुर मात्रा में, उपलब्ध (१४ हजार टन यूरेनियम + २० लाख टन थोरियम) पेट्रोलियम की धरातल के नीचे बहती लम्बी धारा (६०० करोड़ टन) देश को शक्ति का सबल आधार देती है । विश्व की १५ प्रतिशत जनसंख्या २० प्रतिशत पशु संख्या विश्व के २.४% क्षेत्रफल-भारत में निवास करती है । अनुमानतः २१६० करोड़ टन कच्चा लोहा, ११ करोड़ टन मैंगनीज १४ करोड़ टन क्रोमाइट ११८ करोड़ टन जिप्सम, २३ करोड़ टन

बाक्साइड, ४७१३७ लाख टन सोना आदि के भण्डार भारत में निहित हैं। फिर भी भारतीय निर्धन है। भारत पिछड़ा है।

विस्तीर्ण सागर की जलराशि रत्नों से झोली भरती है। मछली दे भोजन की समस्या हरती है। नमक और तेल दे समस्या का समाधान करती है। ऊर्जा दे शक्ति प्रदान करती है। ३५०० मील लम्बी तट रेखा व्यापार का मार्ग प्रशस्त करती है, जिस पर बम्बई, कोंचिला, मद्रास, कलकत्ता जैसे पत्तन विकसित हुए हैं। अतीत में इसी सागर की छाती पर तैर कर हमारे जलपोत विदेशों में जा पहुँचे थे और व्यापार के साथ-ही-साथ सांस्कृतिक पताका फहरा अपना प्रभाव छोड़े थे।

उद्योग और कला-कौशल में भारत सिरमौर था, विजय स्तम्भ (कुतुब-मीनार) का निर्माण किस कौशल से हुआ कि कहीं भी जंग लगने का प्रश्न ही नहीं। ढाके की मलमल कितनी प्रसिद्ध थी। हाथी को ढँकने के लिए मलमल अँगूठी में बन्द की जा सकती थी। यह मन्दिर, यह महल किस शिल्प का प्रमाण दे रहे हैं! मेगस्थनीज प्रशंसा कर उठता है—"भारतवासी शिल्प में बड़े चतुर थे, जैसा कि स्वच्छ वायु में रहने वाले और बहुत ही उत्तम जल पीने वाले लोगों से आशा की जा सकती है।"

विज्ञान, साहित्य और चिन्तन

चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में विश्व भारत का ऋणी है। भारत का पथ ही मानव प्रगति का पथ है। मानवता का मार्ग है। शान्ति का प्रदाता है अर्थ साधन है, साध्य नहीं, उद्घोष कर अर्थ की दासता से मानव को मुक्ति देने का कार्य भारत ने किया है। लक्ष्मीवाहन (उल्लू) से ऊपर उठा कर लक्ष्मीपति (विष्णु) के स्तर पर मानव को रखना हमारा ही कार्य है। भोग में लिप्त रहकर रावण की लंका बसाने से बच कर समाज के लिए अर्पित, साम्राज्य का वैभव अवध में पूजित करने का हमारा ही स्वभाव है। सम्पत्ति की उपासना नहीं, चाहे वह उत्पादन की दिशा में हो, पूँजीवाद या वितरण की दिशा में साम्यवाद सम्पत्ति को श्रम से चेरी बना, व्यक्ति के कल्याण के लिए समर्पित कर देना ही हमारा लक्ष्य है।

कराग्रे वसति लक्ष्मी कर मध्ये सरस्वती।
करमूलेतु गोविन्दः प्रभाते कर दर्शनम्॥

श्रम से ही लक्ष्मी का अर्जन होता है, परन्तु शुद्ध और विवेकपूर्ण साधनों द्वारा और वह अर्पित होता है, गोविन्द-समाज को। कण-कण में परमार्थ के दर्शन कर एकात्म की अनुभूति करना और उसके लिये जीना ही हमने सीखा है।

मानव उपभोग की इकाई नहीं, श्रम का अतुल भण्डार है। भोग के लिए धरती पर नहीं पधारा, कर्म के लिए उतरा है। यह कर्म भूमि है और उस पर

समस्त सामर्थ्य का उत्पादन के लिये लग जाना और अन्त में समाज की गोद में समर्पित हो जाना ही श्रेय है। मानव ही आराध्य है और मानव ही आराधक। दीन-दुखियों की सेवा, उसी परम की सेवा है।

कर्म से पलायन नहीं। कर्म में भय नहीं। कर्म में कष्ट नहीं। कर्म तो हमारी साधना है। हमारा सुख है। उससे भागना कहाँ? उसमें डूबना है। आज पश्चिम ने कर्म से पलायन सीखा, मशीनों को लादा है। श्रम से भागा, सुविधा को जन्म देता है। परिणाम है बेकारी और आलस्य। इसीलिए तो नौकरी, हम चाहते हैं, परन्तु कर्म नहीं। कार्यालयों में कुर्सी खाली है। विद्यालयों में कक्षाएँ खाली हैं। न्यायालयों में न्यायपीठ खाली है। वेतन के लिए हड़तालें है, परन्तु कार्य के लिए योजनाएँ कहाँ?

राज्य जीवन का सर्वस्व बन गया है आज। परिवार के चूल्हे से लेकर ऋषि की कुटिया तक उनका साम्राज्य है। उसी के संकेतों पर शिक्षा-नीति, समाज-नीति, धर्मनीति संचालित होती है। हस्ताक्षर के लिए पैर का अँगूठा बढ़ाने वाला साम्राज्य विधान सभा और लोक सभा में पहुँच विधान का निर्माण करता है और क्षण भर में कभी विद्युत विभाग का तो कभी शिक्षा विभाग का कभी उद्योग विभाग का तो कभी न्याय विभाग का विशेषज्ञ बन जाता है। बस उसे विभाग के मंत्री बनने की आवश्यकता है। मंत्री बना और विशेषज्ञ हुआ। कैसा आश्चर्य है?

भारत राजनीति को जीवन का सर्वस्व नहीं, एक अंग मानता है। राज-नीति समाज जीवन की रानी नहीं, चेरी है। राज्य सत्ता विद्वत् जनों के संकेतों पर चलती है। वसिष्ठ विश्वामित्र, चाणक्य, समर्थ गुरु रामदास उसकी नकेल अपने हाथों में रखते हैं। जनता की इच्छा, उसका नियन्त्रण करती है। महाराजा सगर अपने पुत्र असमंजस को राज्य से निकाल देते हैं। क्यों? इसीलिए न कि उसने प्रजा को कष्ट दिया था।

पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात्। (वाल्मीकि)

सुव्यवस्था राज्य का दायित्व है और विनत हो उसे उसमें लगे रहना है। राजा अश्वपति महर्षियों का स्वागत करते हुए कहते हैं

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

सत्ता शोषण के लिए नहीं, पोषण के लिए है। प्रजा का राजा पिता के समान पालन करता है। वह चिन्तित होता है कि—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

समाज आवश्यकताओं का आविष्कार नही । मनुष्यों ने उसे नही बनाया । मैकाइवर और पेज की धारणा कि समाज सम्बन्धों का जाल है । प्रकृति की कसौटी पर सत्य नही । पश्चिम जगत् समाज को भौतिक धरातल पर खड़ा कर उसका विश्लेषण करता है, जो अधूरा ही नही, मूलत गलत है ।

समाज स्वयंभू, सावयव जीवनमान सत्ता है । व्यक्ति जिसके स्वभावेन घटक हैं । व्यक्ति के समान ही समाज भी प्राणवान् है । उसका भी अपना स्वभाव है । रूस का प्राण रोटी है, इंग्लैण्ड का प्राण व्यापार, फ्रांस का प्राण राजनीति तो भारत का प्राण धर्म है । प्राण को हटाइये समाज टूट जायेगा व्यक्ति समाज के विकास मे बाधक नही, साधक है । व्यक्ति का विकास समाज का विकास है । समाज का विकास राष्ट्र का विकास है और राष्ट्र का विकास विश्व-विकास की सीढ़ी है । सभी इकाइयाँ एक-दूसरे की पूरक है, अवरोधक नही । भारतीय चिन्तन इसीलिए संघर्ष का नही, सहकार का चिन्तन है । लूट का नहीं, दान का चिन्तन है ।

समाज का विराट् पुरुष, अपने अन्तःव्यक्ति के द्वारा व्यक्त होता हुआ, भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के त्रिकोण मे प्रकट हुआ है । करोड़ो जिसके घर है पर कृति एक है । करोड़ो जिसके चरण है पर गति एक है, करोड़ो जिसके नेत्र है पर दृष्टि एक है ।

भगवान् के प्रति मनुष्य भक्ति से नत होता है और अपने को उसके चरणों में समर्पित करता है । यह उसकी आस्था को डगर है, विश्वास का स्थल है, जीवन का सम्बन्ध है, सभी मे उसी के दर्शन कर वह गुनगुना उठता है—

सीय राम मय सब जग जानी ।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

माता-पिता गुरुजनो को श्रद्धा से नमन करता है । उनसे ज्ञान सीखता है, आत्मीयता की डोर मे बँधता है, आशीर्वाद लेता है, उनके प्यार का संस्पर्श पा सुख से पुलकित हो उठता है । श्रद्धा का उदाहरण एकलव्य से अच्छा और कहाँ मिलेगा । पितृ और मातृ भक्ति श्रवण कुमार के जीवन को छोड़ और कहाँ खोजोगे ।

अपने छोटों पर प्यार उड़ेलना और उन्हे अपनाना भारतीय समाज का स्वभाव है । मानव ही क्यों, पशु-पक्षियों पर भी प्यार की थपकियाँ, भारतीय देता रहा है । आश्रम मे किस प्यार से शकुन्तला मृग शावक को पालती है ।

भारतीय चिन्तन परिवार और समाज का विघटन नही कराता, टूटे हुए घटकों को जोड़ता है । वैयक्तिक सुख की ओर नही दौड़ाता, परिवार और समाज के हित के लिए सुखों का समर्पण कराता है । राजा राज्य त्यागते हैं, शकराचार्य

घर त्यागते है, विवेकानन्द समाजहित समर्पित होते है, केशवराम सर्वस्व त्याग तिल-तिल समाज के लिए गलते हैं।

पश्चिम धर्म को भी मता बना देता है। सम्प्रदाय ही उनका धर्म है। मत और पंथ ही उनके धर्म की डगर है। कैसी है विडम्बना ? क्या ईसा और मोहम्मद साहब से पहले धर्म न था ? रिलीजन धर्म नही, रिलीजन सम्प्रदाय है, पथ है, मत है। धर्म तो शाश्वत सिद्धान्त है जिससे व्यक्ति और समाज की धारणा होती है। इसीलिए व्यक्ति सम्प्रदाय निरपेक्ष तो हो सकता है, परन्तु धर्म निरपेक्ष नही। धर्म से हटकर भला अस्तित्व कहाँ ? धर्म पर आधारित रह कर ही वह अर्थ का अर्जन करता है और समाज मे अपनी आकांक्षाएँ पूर्ण करता हुआ परमात्मा को प्राप्त करता है। धर्म ही तो है जो मनुष्य को पशु से अलग खडा करता है।

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥
(पञ्चतन्त्र)

मानिवर विलियम्स कहते हैं कि प्लेटो और पाइथागोरस भारतवासियों के ऋणी है। लेथब्रिज साहब को मानना पडा है कि दर्शनशास्त्र के लिए भारतीयो का ही मुँह जोहना पडता है। कपिल, गौतम, पतंजलि जैसे महान् अद्वितीय दार्शनिक उत्पन्न करने से पहले ही भारत सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। मैक्समूलर इसका वैज्ञानिक प्रमाण देते हुए कहते है—

"जो राज्य उन्नति के उच्चतम शिखर पर स्थित होता है, जिस राज्य मे भीतरी और बाहरी शत्रुओं के आक्रमण की कुछ भी आशंका नही होती, जिस राष्ट्र के लोग धन-सम्पत्ति की वृद्धि के साथ-ही-साथ अनेक विद्या मन्दिर और विश्व-विद्यालय स्थापित करके, बिना किसी विघ्न-बाधा के विद्या मे मन लगा सकते हैं, उस मध्य समुन्नत राष्ट्र में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव होता है।"

साहित्य समाज को दिशा देता है, संस्कार देता है, उसका निर्माण करता है। भारतीय साहित्य समन्वय का वैशिष्ट्य ले विश्व पर छा गया है। गीता गले का हार है। शाकुन्तलम् रस का सागर है। गेटे जिसे पाकर नाच उठा और बोला—

"शकुन्तला वह चीज है जो पृथ्वी का स्वर्ग के साथ मेल कराती है।"

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं की जननी है। डॉक्टर बेलटाइन स्वीकार करते हैं कि संस्कृत से ही विश्व की समस्त भाषाएँ निकली है। डब्लू० सी० टेलर की दृष्टि मे संस्कृत की समता संसार की कोई भाषा नहीं कर सकती। यूरोप की

समस्त भाषाएँ इसी से निकली हैं। संस्कृत का व्याकरण विश्व के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। पाणिनि ने विश्व को इस क्षेत्र मे दिशा दी है। मैक्समूलर लिखते है कि केवल हिन्दुओ और यूनानियो ने व्याकरणशास्त्र की उन्नति की किन्तु यूनानियो ने व्याकरण मे जो सफलता प्राप्त की, वह पाणिनि की देन है। संस्कृत भाषा के ही शब्द विदेशो की भाषाओ मे छाये है। 'मदर' 'मातृ' के अतिरिक्त और क्या है ?

ज्योतिष और गणित का घर है हमारा देश। बेवर और कोलब्रुक सिद्ध करते हैं कि चीन और अरब भारत ने ही ज्योतिष विद्या सीखे है। दशमलव भारत की ही देन है। इसीलिए इसे अरब मे इल्मे हिन्दसा कहते है। डॉ० थीबो कहते हैं कि संसार रेखागणित के लिए भारत का ही ऋणी है। रामानुजम् को गणित के क्षेत्र मे कौन भूल सकता है। वेदो मे वर्णित १६ सूत्र गणित के कठिन-से कठिन प्रश्न को हल करते है।

रोगी का नाम सुन, रोग का निदान बताना हम जानते है। रोगी की काया देख औषधि देते हैं और आज भी नाड़ी पर हाथ रखते ही रोग का निदान खोज लेते हैं। चरक को विश्व स्मरण करता है। वैद्य रसादिक से ही चिकित्सको को दैवी, फल-मूल मे की हुई चिकित्सा को मानुषी और शस्त्र से चीड़-फाड़ की चिकित्सा को राक्षसी चिकित्सा कहते है —

"रसादिभिर्या क्रियते चिकित्सा दैवीति वैद्यै परिकीर्तिता सा।
सा मानुषी याऽथकृता फलाद्यै सा राक्षसी शस्त्रकृता भवेद्या।।

डॉ० हण्टर की दृष्टि मे यूरोप मे वैद्यक का ज्ञान चरक से पहुँचा है।

शिक्षा कभी यहाँ बेची नही गयी। भक्ति ही सम्बन्ध की कड़ी है और श्रद्धा ही ज्ञान का कारण—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" शिक्षार्थी का सम्मान राजा से भी अधिक है। मार्ग पर जाते हुए राजा और शिक्षार्थी यदि सम्मुख आ जावें तो ऋषि वसिष्ठ राजा को शिक्षार्थी के लिए मार्ग छोड़ देने के लिये कहते हैं। कही भी खोजने पर द्विज मूर्ख नही मिल सकते थे क्योकि ग्राम से अपढ द्विज को राजा द्वारा दण्ड का विधान था —

"यदि गाँव मे द्विज एक भी विद्या न विधिपूर्वक पढे।
तो दण्ड दे उसको नृपति, फिर क्यो न यो शिक्षा बढे।।

—भारत भारती

रोटी, कपड़ा और मकान के लिए शिक्षा नही बनी। शिक्षा नौकरी के लिए योजित नही हुई। अर्थ अर्जन और नौकरी के लिए शिक्षा नही हो सकती। जहाँ लक्ष्य अर्थ हो फिर भला 'मनुष्य' दृष्टि मे कैसे आ सकता है। अर्थ अर्जन के लिए

फिर निश्चय ही मनुष्यता को तिलाञ्जलि दी जायगी। इसीलिए तो आज भ्रष्टाचार और अपराध आकाश की ऊँचाई से लेकर धरातल की दृष्टिगत गहराई तक पीठासीन है। इसी वेदना ने मैथिलीशरण गुप्त से कहलवा दिया :—

'शिक्षे तुम्हारा नाश हो तुम नौकरी के हित बनी''

आज-मानव निर्माण हमारा लक्ष्य नहीं समाज-संस्कार हमारा ध्येय नहीं। फिर भला मानव-मूल्यों और समाज आदर्शों को हम क्यों खोज रहे हैं? क्यों राम-सा राजा चाहते हैं? विश्वामित्र-सा ऋषि चाहते हैं। समर्थ रामदास-सा गुरु चाहते हैं, तुलसी-सा कवि चाहते हैं, भामाशाह-सा मंत्री चाहते हैं।

भारत मानव-मूल्यों को केवल पुस्तकों में बंद नहीं करता, उनको जीता है। चिन्तन को साकार रूप देता है और उसी सगुण की उपासना भारतीय समाज करता आया है। सत्य 'हरिश्चन्द्र' के रूप में पूजित है, दान 'दधीचि' के अस्तित्व में वन्दित है, शील 'राम' के रूप में घर-घर उपास्य है और कर्म 'कृष्ण' के चरित्र में उजागर है। करुणा 'बुद्ध' के स्वरों में फूटी है, ममता 'विवेकानन्द' ने दी है, अहिंसा 'गान्धी' लेकर बढ़े हैं, समर्पण समाज-हित, कण-कण का 'केशव' और 'दीनदयाल' ने जाना है, समता 'जयप्रकाश', लोहिया और 'मालवीय' का पथ है। इसी मानव-मूल्य की डगर पर भारतीय जीवन-यात्रा करता आया है।

अब्दुल रज्जाक १५४३ में लिखते हैं कि—

''माल हर किस्म का, बगैर मालिक के, बाजारों में खुला पड़ा रहता है मगर उसे कोई हाथ नहीं लगाता।''

एरियन यूनानी कहता है—

'मैंने किसी हिन्दू को झूठ बोलते नहीं सुना।''

कर्नल स्लीमैन स्वीकारता है—

कि गाँव के रहने वाले दृढ़ता से सत्य का साथ देते हैं और फाहियान कहता है कि ''भारत में घरों में ताले नहीं लगाये जाते।''

यह मानव-मूल्यों की डगर है जिस पर चल कर भारतीय सभ्यता का रथ इस ऊँचाई तक पहुँचा और उससे हटते ही, अर्थ की रपटीली राह पर पहुँच भ्रष्टाचार के दलदल में फँस गया। वर्तमान में मानव विकृति का बन्दी है, भ्रष्टाचार ही उसका भगवान् है और ध्वंस ही उसका पथ है।

[' हिमाद्रि से लेकर सिन्धु तक फैली भारत की धरती तुम्हारे पुरुषार्थ को चुनौती देती है, राजस्थान की तपती हुई माटी अपनी 'प्यास' बुझाने के लिए तुम्हारी ओर टकटकी लगाये निहार रही है। मध्य प्रदेश, उत्कल और महाराष्ट्र

का वक्षस्थल हुंकार की बाट जोह रहा है—गिरि शृङ्गों की ऊँचाइयाँ कर्मण्यता को आमन्त्रण दे रही हैं—उठो और देखो! क्योंकि "भारत के स्वर्णिम अतीत पर विपन्नता का स्वरूप (अब) शोभा नहीं देता।"......]

विपन्नता का स्वरूप

स्वातन्त्र्य सूर्य उदित होने से पूर्व जनमानस में महत् आकांक्षा जगी थी कि सुख और शान्ति की किरणें नगर की अट्टालिकाओं से लेकर ग्राम की कुटिया तक पहुँचेगी तथा अभाव और अन्याय की चक्की में पिस रही मानवता को मुक्ति मिलेगी। पूज्य बापू का रामराज्य साकार होगा किन्तु हुआ उल्टा ही, आकाश से गिरकर, स्वतन्त्रता खजूर में लटक गयी। सत्ता का परिवर्तन तो हुआ परन्तु स्वतंत्रता नहीं आयी। तंत्र विदेशी रहा 'मंत्र' विदेशी रहा और गणतन्त्र भी अपनी धरती छोड़ विदेश की धरती का बन गया। जब 'तन्त्र' ही अपना नहीं जब मंत्र ही अपना नहीं तो स्व 'तंत्र' कैसा?

परतन्त्रता के काल में स्वतंत्रता की भावना थी। राज्य विदेशी था, पर भावना स्वदेशी थी। प्रशासन उनका था, व्यवस्था हमारी थी, कार्यालय शासित था, घर स्वतंत्र था, नागरिक नियमों का बंदी था व्यक्ति स्वतंत्र था। भाषा अपनी थी भूषा अपनी थी, भावना अपनी थी, तीज और त्योहार अपने थे। आज स्वतंत्रता की छाया में परतन्त्रता की बेल विकसी है। तन स्वदेशी है पर मन विदेशी है। सिद्धान्त की भाषा अपनी है और भावना उनकी है। खद्दर का वस्त्र है पर सूट और टाई है। घर पर 'अंकल' की संस्कृति छायी है 'मैया' मर गयी है और मम्मी पधारी है, 'पिताजी' स्वर्गवासी हुए हैं और 'पापा' आ बिराजे हैं। अपना जो कुछ भी है, तुच्छ है हेय है, विदेशी की जूठन भी उत्तम है, श्रेष्ठ है।

महर्षि अरविन्द ने भारत को 'माँ' के रूप में पूजा है। बंकिम बाबू ने 'वंदेमातरम्' को दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी, कह भारत को शक्ति के रूप में आराधा है। गांधी ने भारत की आत्मा से सीधा नाता जोड़ उसे खण्डित होने से बचाने के लिए संकल्प किया—'हमारे शव पर ही माँ का विभाजन होगा।' 'रावी के तट पर जनवरी, २६ में पूर्ण स्वराज्य का उद्घोष हुआ और आज भी हम 'भारत माता की जय' बोल स्मरण करा देते हैं कि देश हमारी 'माँ' है, मिट्टी का टुकड़ा नहीं। परन्तु पूज्य बापू की कल्पना टूट गयी। देश, हमारी 'माँ' न रहा, हम उसके बेटे न रहे। देश राज्य बन गया और हम नागरिक बन गये। जिस माँ के लिए लालों ने फाँसी के फन्दे चूमे, जिस देश के लिए वीरों ने सीनों पर, गोली खायी, जिस भारत माँ की धूल को मस्तक पर चढ़ा शहीदों ने कण-कण धरती का रक्त से पवित्र कर दिया, माताओं ने गोद सूनी की, बहनों ने सुहाग लुटाया, वही 'माँ', भारत माँ,

आज 'माँ' न रही, मिट्टी का टुकड़ा बन गयी। राज्य का क्षेत्रफल बन गयी। वाह री कल्पना वाह रे भोग की भावना।

इसीलिए 'माँ' की भुजाएँ कटती रहीं और हम मौन रहे। मस्तक-कश्मीर पर कुल्हाड़ा चलता रहा हम मौन रहे, केश, लद्दाख, उत्तंगियम-बिखरे, लहू लुहान हुए हम मौन रहे, बगल पर-कच्छ बेरुबाड़ी-प्रहार हुआ हम मौन रहे। हमें काठ मार गया, हमारे हाथ न हिले, मुख न खुला। क्यों? सत्ता के मद ने ममता की डोर को तोड़ दिया। भोग की लिप्सा ने श्रद्धा को तिलांजलि दे दी। भक्ति तो दूर हम अपनापन भी न निभा सके।

शान्ति के नाम पर हमने पंजाब दिया, सिन्धु दिया, बिलोचिस्तान दिया, बंगाल दिया, परन्तु शांति की देवी हमसे रूठी रही। उसे मनाने को हमारे नेता और अट्टहास करते हुए दानव की झोली में 'कच्छ' डाल दिया 'बेरुबाड़ी' का उपहार दिया। परन्तु उसने हमें दुत्कार बता सदैव के लिए शांति को हमसे छीन लिया। कायर हाथों से छीनने, पीली परन्तु पैनी उँगलियाँ हमारी धरती पर आ गड़ीं और १४ हजार वर्गमील धरती दबोच कर ले गयी। हम देखते रहे। कायरता के घूँघट में बैठी हमारी सत्ता आज तक उसे वापस न ले सकी। देश कटा, देश बँटा, और सीमाएँ सिकुड़ती चली गयीं।

बँटता भी क्यों न! साधना का 'मंत्र' भी भुला दिया। 'वन्देमातरम्' जिसे देश भक्ति के साधकों ने अपने रक्त से सिद्ध किया, फाँसी का फन्दा चूम जिसने तेज की लपटें फूँकीं कारा की काल कोठरियों में दीवारों से टकरा-टकरा जिसे उच्चारित कर मंत्र की शक्ति दी वही स्वर हमसे छीन लिया। जिसे बोलते ही जोश की लहर दौड़ जाती हो, जिसे सुनते ही बलिदान के लिए मन मचल उठता हो, जिसे याद कर आजाद भगतसिंह, सुभाष, सावरकर, गांधी और नेहरू के चेहरे आँखों के सामने दौड़ जाते हों वह छंद दूर किया, वह गीत भुला दिया, वह भाव ही हटा दिया। वाह रे संतुष्टीकरण की नीति। अपने हाथों अपनी परम्परा मिटा दी, अपना इतिहास मिटा दिया।

'जन-गण मन' हमारा राष्ट्रीय गीत है। पूज्य रवीन्द्र का गीत है। पर कहाँ है उसकी साधना? कहाँ है सिन्धु? जिसे नित्य राष्ट्रीय गीत में दोहराते हो। कहाँ है लोक-भावना? कहाँ है जनता का देश?

कैसी जय। किसकी जय। शब्द में साधक की साधना होती है, शब्द में साधक की आत्मा बोलती है। शब्द में प्राण होते हैं। सुभाष ने कहा 'तुम हमें खून दो हम तुम्हें आजादी देंगे' बस भारत की जनता मचल उठी घर छोड़-छोड़, हथेली पर सिर रख सुभाष के चरणों में आ डटी। कौन-सा जादू था, कौन-सी शक्ति

थी। वही सुभाष की साधना ही तो थी न, जो मध्यों मे बोल रही थी। हम वही शब्द बोल कर क्या जनता का बलिदान के लिए ला सकते हैं? नहीं। क्योंकि हमारी यह साधना नहीं। 'वंदेमातरम्' मे वही शहीदों की साधना बोलती है उनकी आत्मा हुंकारती है। और जन--गण--मन अभी सूना है।

देश को हम देश का विधान ही न दे सके। आज एक लम्बा किन्तु निर्जीव आकार खड़ा कर दिया गया है किन्तु कहाँ है उसमें भारत का इतिहास? कहाँ है उसमें भारतीय परम्परा? कहाँ है भारतीय समाज का स्वभाव? कौन-से हैं उसमें हमारे मानवीय मूल्य, कौन-से हैं हमारे उसमें आदर्श? व्यास, वशिष्ठ कृष्ण याज्ञवल्क्य, पाराशर, मनु, चाणक्य क्या किसी भारतीय का कोई भी चिन्तन-भरा वाक्य उसमे समाहित है? यदि नहीं तो क्यों? क्या हम मूर्ख हैं? क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे? क्या उन्हें राज्य-व्यवस्था का कोई ज्ञान नहीं था? और यदि नहीं था तो क्या हम अपनी आवश्यकता और अपने स्वभाव के अनुकूल कोई विधान नहीं बना सकते? सशोधनो की शृंखला कब तक चलती रहेगी। वृद्ध का कोट शिशु नहीं पहन सकता, दुपट्टा का 'एलू' भारत का घर नहीं बन सकता। अपने स्वरूप और अपने वातावरण के अनुकूल अपना ढंग और मार्ग बनना होगा। यहाँ राम पूजित है, यहाँ कृष्ण वन्दित हैं। रूसोइस और मैक्यावेलि नहीं।

भारत की सम्पन्नता अपने पैरों खड़ी हुई है, भीख के सहारे उसने कभी मुकुट नहीं बाँधा है। धरती ने सोना उगला है, श्रम ने सम्पन्नता की फसल उगाई है। लूट की लंका नहीं, सदैव शील की अयोध्या हमने बसाई है। लुटते-लुटते भी इसीलिए हमारा खजाना खाली नहीं हुआ और स्वतन्त्रता के आगमन पर हम साहूकार सिद्ध हुए, इंग्लैण्ड कर्जदार। पर आज प्रगति के चरण बदले। हम कर्जदार हैं और किस-किस देश के नहीं। ४८८४ करोड़ रुपया हम पर कर्ज है और फिर भी हम प्रगति पर हैं। वाह री प्रगति। जुआरी और शराबी कर्ज ले, जब अमीरी का ढोंग रचता है तो समझो उसका घर नीलाम होने वाला है। सत्ता मद से चूर, कुर्सी के जुए मे दाव लगाने वाले सर से पैर तक देश को कर्ज से लाद चुके हैं और गाँव की टूटी झोंपड़ी में अभी तक सम्पन्नता तो दूर रोटी की गंध तक नहीं पहुँची है। देश मे भूखों की संख्या बढ़ी है, अधपेटों की गिनती नहीं की जा सकती। हाँ, नये उभरे चमकते चेहरे वाले सेठों और जमींदारों की गिनती अवश्य हो सकती है।

बेकारों की पलटन खड़ी है। कार्यालयों की कुण्डी खटक रही है पर नौकरी कहाँ है? नौकरी नहीं तो रोटी कहाँ है? रोटी नहीं तो घर कैसा? घर नहीं तो बीहड़ मे क्यों न जायें? बीहड़ में जायें तो खून चूसने वाले और आडम्बर मे छिपने वाले समाज के गुनहगारों से क्यों न लिपटें और लिपटें तो अपराधी क्यों न कहायें? यह क्रम कब तक चलेगा। यह दिशा सही दिशा नहीं है। यह दिशा हमारी दिशा नहीं है।

नौकरी नही कर्म चाहिये, कार्यालय ही नही खेत भी चाहिये। कुर्सी नहीं धरती और सागर को छाती चाहिये। उठो! देखो! हिमाद्रि से लेकर सिन्धु तक फैली भारत की धरती तुम्हारे पुरुषार्थ को चुनौती देती है राजस्थान की तपती हुई माटी अपनी प्यास बुझाने के लिए तुम्हारी ओर टकटकी लगाये निहार रही है। मध्य प्रदेश उत्कल महाराष्ट्र का वक्षस्थल हलधर की बाट जोह रहा है। आकाश को चूमती गिरि-शृंगों की ऊँचाइयाँ कर्मण्यता को आमंत्रण दे रही है। रत्नगर्भा भारत वसुन्धरा अपने वैभव को विराट् के करोड़ो करो मे समर्पित करने को आतुर है। सागर अँगड़ाई ले अपनी सम्पूर्ण सम्पदा चरणों मे अर्पित करने को खड़ा है। लक्ष्मी अपने पुत्रो को सर्वस्व देना चाहती हैं, पर कहाँ है वे कर। कहाँ हैं वे चरण। कहाँ है वह दृष्टि।

दृष्टिहीन समाज ही टूट चुका है, गाँव उजड रहे है। प्रकृति की गोद छोड हम मनुष्य की कारा मे बन्दी होने भाग रहे है। उगते हुए सूर्य को नहीं, बल्ब के प्रकाश को नमन है। सुगन्धित वायु का संस्पर्श नहीं, बिजली के पंखे का सुख है। कल कल करती सरिता का अवगाहन नही, लंबी प्रतीक्षा के बाद, प्राप्त लोटे भर पानी से प्रक्षालन है। स्वतन्त्रता का जीवन नही, दासता का वैभव है। मनुष्य मर चुका मशीन का जीवन है। प्रातः से सायं तक पैसा-पैसा बस पैसे की धुन है। परिवार टूट रहे हैं, भाई भाई को खा रहा है। माँ बेटे को छोड रही है और बेटा मा को घसीट कर घर से निकाल रहा है। श्रद्धा आकाश मे उड गयी है, भक्ति ने बिदाई ले ली है और प्यार धरती मे धँस गया है। बस सम्बन्ध रह गये हैं अर्थ के। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी संस्कार का सम्बन्ध नही रहा। पश्चिम की हवा ने उसे आधुनिकता का आवरण पहना दिया है। समाज से आत्मीयता और अपनापन बिदा हुआ। स्वार्थ की आँधी में संघर्ष-ही-संघर्ष मुँह बाये खड़ा है। भ्रष्टाचार छाया है। अपराध बढा है। अशान्ति फैली है और समाज मे जीवन-मृत्यु की घडियाँ गिन रहा है। व्यवस्था चरमरा कर चूर हो गयी है। व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल गया। कैसी नैतिकता और कैसे मूल्य ?

धर्म की बात छूटी, न्याय भी आँख से ओझल हुआ, कानून भी कानो से जाता रहा, कुर्सी पर रह गया बस अर्थ का शासन और वह भी तो अब झूठा पड गया। कभी धर्म का भय था और व्यक्ति भ्रष्ट का आचरण नही करता था, धर्म की चिन्ता न भी की तो न्याय की सोचता था और भ्रष्ट आचरण से बचता था, वह भी जाता रहा तो कानून का भय समझता था और गलत आचरण नही करता था, कानून को भी बिदाई दी तो पैसे के बल पर ही गलत काम सम्भवत: था, पर

अब तो पूरी स्वतन्त्रता है। कैसा धर्म ? कैसा न्याय ? कैसा कानून ? नीचे से ऊपर तक भ्रष्टाचार व्याप्त है। सर्वव्यापकता में भ्रष्टाचार भगवान् से आगे है। हो सकता है लोग भगवान् को विद्यमान न कहे परन्तु एक स्वर से सभी भ्रष्टाचार को सर्वत्र विद्यमान कहते है।

अपने मूल्य हमने छोड़े—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई" छोड़ हमने स्वीकार किया 'जियो और जीने दो।' क्या यह भोग का बँटवारा नहीं ? क्या कर्त्तव्य की डगर से हटकर हम अधिकार के पथ पर नही बढ़े ? कैसा समर्पण ? कैसा त्याग ? कहाँ शील ? कहाँ करुणा ? सहकार के नाम पर क्या अर्थ से हम नहीं बँधे। भारतीय जीवन-पद्धति छोड़, विदेशीय जीवन हम जी रहे हैं और कितना विचित्र है कि हम कहते हैं कि भारत मे ही नहीं, विदेशो मे भी अपराध बढ़े है, महँगाई बढ़ी है, भ्रष्टाचार बढ़ा है, तो फिर हमारी बुद्धि मे क्यो नही आता कि जो रास्ता विदेशी चल रहे है और जिसे हम अपना रहे है वह गलत है। यह गलत रास्ते ही के परिणाम हैं। हम उस रास्ते को छोड़ते क्यो नहीं। हम अपना रास्ता क्यो नहीं चलते। अधिकार और भोग का रास्ता छोड़ कर्तव्य और अध्यात्म का मार्ग क्यो नही चुनते। मनुष्यता की उपासना क्यों नही करते।

मनुष्यता की उपासना करें कैसे। हमने तो अपना इतिहास ही भुला दिया। हम तो अपने आदर्श ही भूल बैठे। कितने हैं जिन्होंने रामचरितमानस पढ़ी है ? कितने हैं जिन्होने गीता पढ़ी है ? कितने है जो वेदो के नाम जानते हैं ? कितनों ने अरविन्द, विवेकानन्द का नाम सुना है ? अपने पर्व भी तो स्मरण नही रहे, अपनी परम्पराएँ भी तो हम भूल गये। नीति की कथाएँ जीवन के संदेश, संतों के उपदेश सभी कुछ विदा हुए। हितोपदेश की कहानियाँ कौन सुनाता है, कौन देता है मंत्रो का भाव।

राम और कृष्ण को भूल, लेनिन और लिंकन पढ़े जा रहे हैं। राणा और शिवा को छोड़ नेपोलियन और बिस्मार्क याद आते हैं। बन्दाबैरागी और गुरु-गोविन्दसिंह के पुत्रो का बलिदान नही, लाल क्रान्ति याद आती हैं, तो भला कैसे भारतीय चरित्र विकसेगा।

निष्कर्ष

जो सो रहा है, उसे जगाया जा सकता है। जागकर वह आगे की यात्रा कर सकता है। जो भूल गया है, उसे उसके रास्ते पर लाया जा सकता है और वह अपने रास्ते पर आगे बढ़ सकता है, किन्तु जो अपना रास्ता छोड़ दूसरों के रास्ते पर चल पड़ा है और उसे ही अपना रास्ता मान बैठा है तो फिर उसे कौन

समझाये ? जिसे प्रयाग पहुँचना है वह काबुल की ओर जाने वाली गाड़ी पर बैठ यात्रा करे तो क्या कभी प्रयाग पहुँचेगा ? कभी नहीं । भारत में व्यक्ति और समाज का लक्ष्य विदेशी लक्ष्यों से भिन्न है, इसलिए हमारा मार्ग भी भिन्न है ।

हम अपनी राह पर चलें, अपने को पहचानें, अपने स्वभाव को समझें, अपने पैरों खड़े हों, अपना तंत्र हो, अपना मंत्र हो, अपनी धरा हो और उस पर अपना कर्म हो, अपने आकाश के तले अपने पसीने से वैभव की खेती उगायें और अपने राष्ट्र मन्दिर में अपने विराट् पुरुष की आरती उतारें ।



अकर्मण्यता की जंजीरों में जकड़ा देश

["अपने राष्ट्र का हित होने में ही अपना हित है, ऐसा ध्यान बने। कभी भी राष्ट्र को हानि पहुँचा कर अपना लाभ करने की चेष्टा न हो।"— अथर्ववेद की इस भावना पर निरन्तर चिन्तनशील रहनेवाली लेखनी से : कर्म के लिए पर्वत से टूटकर निकल पड़ने वाला पाषाण भी गंगा की धारा के थपेड़े सहता एक दिन मंदिर का भगवान बन जाता है और अपने स्थान से चिपका पत्थर समय की रगड़ से राख बन जाता है, पर व्यर्थ। इसीलिए राम-कृष्ण ने पलायन का नहीं, कर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है।"]

कर्म की कोख में सृष्टि का उदय हुआ। "एकोऽहं बहुस्याम्" की कामना, कर्म का पावन स्पर्श पा, विविध रूपों में रूपायित हुई। धरा कर्म की धारा में बही तो बहती चली गयी—कहीं विराम नहीं। अपने अस्तित्व के लिए अपनी कीली पर नाची, तो विराट् की उपासना में भगवान सूर्य के चारों ओर नृत्य करने लगी। अपनी कीली पर नाचते हुए, कभी भी वह अपने विराट की परिक्रमा को नहीं भूली। चली जा रही है घूमती, वह आज भी और दिन, रात, वर्ष व्यतीत होते जा रहे हैं, पर कर्म की यात्रा को कहीं विश्राम नहीं।

प्रकृति ने धरा के वैभव को अपने हाथों सम्हाला। सतत गतिवान्, कर्म में रत, वसुन्धरा प्रकृति के हाथों सजने और सँवरने लगी। तपन मिटी, वर्षा भी सिमटी और वनस्पति ने अभिनव शृंगार किया। पर्वत अपनी ऊँचाई ले उभरने लगे, सागर गहराई ले लहरने लगे। कर्म का प्राकट्य हुआ और उसका सर्वोत्तम रूप निखरा भारत में—इसीलिए हुई यह कर्म भूमि, धर्म भूमि, जहाँ अवतरित हुए कर्म के लिए, राम और कृष्ण।

कर्म क्षेत्र का कोना-कोना, राम ने अपने श्रम से, पवित्र कर दिया। शैशव की किलकारियों से लेकर, राजा के पावन स्वरूप तक, कर्म की धारा अविराम बही। सुख और दुःख में कर्म निखरता ही रहा। कृष्ण कर्म का सन्देश ले धरती पर उतरे। उनका सम्पूर्ण जीवन कर्म की तुला पर तुल गया। कर्म का कौशल ही

योग बना और कृष्ण बने योगिराज। उसी कर्म का पाठ जन-जन, भारत में पढ़ता है, जीवन में उतारता है। वह कहता है :—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
(अथर्व० ७। ५२। ८)

यदि पुरुषार्थ मेरे दायें हाथ में है तो विजय बायें हाथ में।

कभी भी व्यक्ति आलस्य की चारपाई पर पड़ा जीवन समाप्त नहीं कर देना चाहता, वह चाहता है १०० वर्ष का कर्ममय जीवन :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
(यजु० ४०। २)

कर्म से पलायन करने वाले पुरुषों को, कौन चाहेगा ?
सोने वालों को किसने सराहा ? आज का कवि भी तो ललकार कर कहता है :

जिन्दगी सोना नहीं है,
जिन्दगी रोना नहीं है,
जिन्दगी है, कर्म की पावन त्रिवेणी…… …… (डॉ० रामेश्वर द्विवेदी)

देवता भी पुरुषार्थी को चाहते हैं, सोये हुए को नहीं :—

इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
(ऋग्वेद ८। २ १८)

महाभारत-काल में राजा, ऐसे व्यक्ति को अपनी समिति में नहीं आने देना चाहते, जो स्वयं खेती नहीं करते —

न स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्।
(महाभारत उद्योग पर्व ३६—३१)

कर्म करने वाला ही यहाँ पूजित हुआ है, जन-जन का आराध्य वही बना है, जो वन-वन कर्म की डगर पर चला। ब्रह्मा की आराधना नहीं, आराधना राम की हुई है। सेवा के साक्षात् स्वरूप हनुमान् को उपासा गया, कहीं राजा कहे जाने वाले सुग्रीव को नहीं। आकाश को चूमने वाला पाषाण भी पूजा तो कब, जब कर्म की भागीरथी अपनी आँख से धरा पर उतारी और उसे अविराम बहाता रहा :—

इस हिमालय को बड़प्पन तब मिला है,
भूमि को जब आँख से गंगा पिलाई।
(रामावतार त्यागी)

आकाश की छाती पर, फैली अन्धकार की घनीभूत पर्त को सूर्य की किरण चीरने के लिए चले कि उससे पहले ही भारत का हलधर अपने प्यारे बैलों को ले,

हल कन्धे पर रख, धरती का वक्ष चीर अपने रक्त को स्वेद बना, धरती में बोने चल दिया। और सत्य ही, यह उसके श्रमबिन्दु ही तो हैं, जो लहलहाती फसल के रूप में उगे हैं। यह उसके रक्त-कण ही तो हैं जो पुष्पों में, फलों में लाल-लाल निखरे हैं, यह उसके हृदय से बहने वाली प्यार भरी कर्म की उपासना ही तो है, जो गन्ध बन सर्वत्र बिखरी है। धरा साधन है। और पुरुष साधक। साध्य है वह विराट्, जिसकी साधना पुरुष करता है। यही साधना, कर्म है।

उत्पादन के लिए, समस्त साधन धरा अपना वक्ष खोल मनुष्यों के सामने प्रस्तुत करती है और उन साधनों का उपयोग करता है, उत्पादन के लिए अतुल श्रम का भण्डार, यह मानव। मानव श्रम की, सर्वांगीण पूर्ण इकाई है जिसका विकल्प नहीं। पशु शक्ति दे सकता है, पर कहाँ रखा है विवेक, कहाँ है स्नेह, कहाँ है कौशल। यन्त्र शीघ्रता कर सकता है, पर मानव हृदय और हाथ नहीं बन सकता। यन्त्र से बुना हुआ स्वेटर, अपनी माँ के हाथ से बने हुए स्वेटर के प्यार के समक्ष धूल है धूल। फिर यन्त्र संचालन भी तो कोई शक्ति ही करेगी, कोई बुद्धि ही करेगी और वह बुद्धि होगी मानव की।

मानव श्रम है, श्रम। वह भी कुशल श्रम। लक्ष्य है उसका कर्म—वह कर्म जो आनन्दमय है; सुखमय है और है हितकर। देखा है, पौधों को सींचते हुए कभी वन माली को कितना आनन्द आता है उसे पौधों की कल उभरने वाली हरियाली की कामना में। और इससे भी आगे, देश की सीमा पर मातृभूमि की रक्षा के लिए जूझने वाले उस अमर शहीद के आनन्द की कल्पना कीजिये, जो हँसते-हँसते वक्ष पर गोली खा, अपने वक्ष पर विजय की माला पहना गया। यही है कर्म और कर्म से आनन्द की अनुभूति करने के लिए मानव-श्रम।

पेट भरने के लिए पशु है, मानव नहीं। पशु उपभोग की इकाई है और मानव उत्पादन की। पशु भूख शान्त करने के लिए दौड़ता है और उसके लिए साधन के रूप में होता है उसका श्रम। सिंह का श्रम, यही साधन के रूप में किया गया श्रम है। मानव की यात्रा कर्म की यात्रा है। वह कर्म पथ पर चलता है। कर्म की डगर पर चलता रहे, इसलिए लेता है भोजन, इसलिए लेता है वस्त्र, इसलिए चाहता है सर पर संरक्षण। 'रोटी, कपड़ा और मकान' उसका लक्ष्य नहीं, यह तो उसे कर्म के लिए सतत खड़ा रखने का, मात्र साधन है। चलने वाले इंजन को पेट्रोल चाहिए, परन्तु पेट्रोल के लिए इंजन की चाल नहीं। चलना इंजन का लक्ष्य है, पेट्रोल उसका लक्ष्य नहीं।

कर्म का वैशिष्ट्य ही, मानव को पशु से भिन्न स्वरूप में प्रस्तुत करता है। पशु पेट के बल धरा पर रेंगता है, चलता है। सदैव वह पड़ा है, पेट धरती की ओर

सदा ही मुड़ा है। पेट ही उसका सर्वस्व है। इसीलिए तो हाथ और पैर दोनों से पेट सीधे धरा की शरण में पड़ा है, परन्तु मानव बुद्धि को सबसे ऊपर रखकर और हाथों की शक्ति सदैव कर्म के लिए तत्पर रखकर पैरों पर खड़ा है। बुद्धि के इंगित पर इसके चरण मुड़ते हैं। और हाथ विवेक को आगे रख, कर्म में जुटते हैं। कर्म के लिए उठे हाथ ही पूजित हैं, भोग के लिए जुटे हाथ पूजित नहीं। पुत्र का, भाई का, स्वामी का कर्म करने के लिए, उठा राम का हाथ पूजित हुआ है और भोग के लिये बढ़ा रावण का हाथ कलंकित। व्रज की रक्षा के लिए उठा गिरधारी का हाथ वन्दित है और भोग के लिए बढ़ा कंस का तिरस्कृत। राम का, कर्म में पूर्णकाल—वनवास—रामायण का, रामचरितमानस का प्राण है। रावण वध के पश्चात् रामराज्य की यशोगाथा का कहीं गान नहीं। कृष्ण का कर्म प्रशंसित हुआ है, कृष्ण का राज्य भोग नहीं।

'आज कर्म की धरती पर भोग का शासन है। अकर्मण्यता पूजित है और कर्मण्यता तिरस्कृत। कर्म का राजपथ सूना है और पगडंडियों पर लुटेरों की भीड़ है। इन्हें पैसे से मतलब है कर्म से नहीं।..............पूज्य बापू की कल्पना टूट गयी। देश हमारी माँ न रहा, हम उसके बेटे न रहे।'

कर्म ही है, तो, जिसने कारा में जन्मे सामान्य-से लगने वाले शिशु को कृष्ण बना दिया। कर्म ही तो है, जिसने बालक राम को पुरुषोत्तम राम और पुरुषोत्तम राम को भगवान् राम बना दिया। कर्म वह उपासना है, जो व्यक्ति में बैठे हुए सामान्य 'स्व' को विराट 'स्व' में परिवर्तित कर आत्मा को परमात्मा में प्रकट कर देती है। गौतम हों या गान्धी, महावीर हों या विवेकानन्द यही कर्म की उपासना है जिसने इन्हें महान् बनाया। कर्म के लिए पर्वत से टूट कर निकल पड़ने वाला पाषाण भी गंगा की धारा के थपेड़े सहता, एक दिन मन्दिर का भगवान् बन जाता है और अपने स्थान से चिपका पत्थर समय की रगड़ से घिसकर राख बन जाता है, पर व्यर्थ। कर्म ही जल को धारा बनाता है और कर्म की उड़ान ही जल को मेघ। कर्म ही मिलन का माध्यम है और कर्म ही मोक्ष का साधन कल-कल करती धारा, कर्म के चरणों ही, सागर के गले आ लगती है और गर्जता हुआ जलधर कर्म के द्वार से ही, जीवन बन धरा से आ मिलता है, पा जाता है धूम्र योनि से मुक्ति। इसलिए तो राम ने, कृष्ण ने पलायन का नहीं, कर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है।

कर्म जोड़ने वाला तत्त्व है। समाज की आधार शिला है, कर्म। समाज के सम्बन्ध, कर्म की डोर से बँधे हैं। कर्म न करने वाला व्यक्ति, समाज को तोड़ता है, जोड़ता नहीं। इसीलिए तो कर्म समाज का पावन धर्म है। भगवद्भक्ति में, दिन-

रात एक कर देने वाली मीरा का जीवन हो, या माँ और पिता की सेवा में अन्तिम श्वाँस तक लगने वाला श्रवण कुमार का श्रद्धा से पगा जीवन, अथवा हो प्यार की सतत वर्षा करने वाला राम-कृष्ण का वरद हस्त सभी तो उसी कर्म के उपासक हैं। कर्म ने ही तो भक्ति श्रद्धा और प्यार के पावन सम्बन्धों को स्थिर रखा है। कर्म तिलक का हो या गांधी का, सुभाष का हो या हेडगेवार का कर्म है और इसीलिए समाज को संगठित कर खड़ा करने में समर्थ है। यही प्रेरणा का स्रोत है।

वर्तमान कर्म का नहीं नौकरी का आराधक है। आज देश, कर्म की धरती नहीं, नौकरी का घर है। कर्म के लिए नहीं, नौकरी के लिए कर भटक रहे हैं। राजपथों पर बेकारों की भीड़ है। कार्यालयों पर भिखारियों का जमघट है। सेवा नियोजन कार्यालय करोड़ों की संख्या—बेकारों की—प्रदर्शित कर रहा है। उत्पादन का साधन 'श्रम' व्यर्थ पड़ा है। प्रत्येक का पावन दायित्व 'श्रम' विश्राम के बिन्दु पर है। व्यवस्था लड़खड़ा रही है।

क्या यह करोड़ों 'कर' कर्म के लिए कार्यालयों की कुण्डी खटखटा रहे हैं? क्या व्यग्र युवा कुछ करने के लिए सड़कों पर निकल पड़े हैं? नहीं नहीं। इन्हें कर्म नहीं, मात्र नौकरी चाहिये, नौकरी-पैसे का माध्यम। इसीलिए कार्यालयों में No Vacancy के पट तो लटक रहे हैं, परन्तु 'कर्म' की कुर्सियों पर कर्म रत 'कर' दिखाई नहीं पड़ते। दिखाई भी क्यों पड़ें? उन्होंने नौकरी 'अर्थ' के लिए की है, 'कर्म' के लिए नहीं। 'अर्थ' का अर्जन कर्म से नहीं जुड़ा है जुड़ा है भ्रष्ट आचरण से। इसलिए भ्रष्ट आचरण ही आज वरेण्य है। कर्म तिरस्कृत है, उपेक्षित है।

कर्म की समस्या का निदान 'पैसे' में खोजा जा रहा है, पैसे की दासता में मनुष्य को जकड़ा जा रहा है और दासता की जकड़न में प्रसन्नता की अनुभूति करना चाहता है, समाज। कितना विचित्र है यह? दासता में स्वतन्त्रता की अनुभूति भला कैसे सम्भव है। पैसा 'मनुष्य' और 'समाज' का शासक बनकर बैठा है। कर्म की धरती पर भोग का शासन है। पैसा कर्म की समस्या का समाधान नहीं। "कर्म" के प्रश्न का भोग के साम्राज्य में उत्तर? असम्भव—नितान्त असम्भव। कर्म के बदले में पूंजी का सिद्धान्त, कमाने वाले को तो रोटी दे सकता है परन्तु वृद्ध माँ, बाप और शिशु को रोटी कैसे देगा? 'कमाने वाला खायेगा" तो फिर कौन पूछेगा असहाय पड़े माँ, बाप को, रुदन करते शिशुओं को। सभी का पालन-पोषण हो "जो जन्मा सो खायेगा", इसलिए पैसे का नहीं कर्म का पावन उद्बोध चाहिये। पूंजी का नहीं, धर्म का शासन चाहिये। भरत का कर्म चाहिये, राम का धर्म चाहिये—

विश्व भरण पोषण कर जोई ।
ताकर नाम भरत अस होई ॥

कर्म आज बोझ है । बोझ को भला कौन चाहेगा ? व्यक्ति चाहता है, बोझ से मुक्ति । और मुक्ति के लिए खोजता है साधन । कर्म के लिए उसके हाथ नहीं उठते, उठते हैं, उसके पैसे पर बिकने वाले कर्मचारियों के कर । कर्ता के 'कर' कर्म पर नहीं लगते, लगते हैं कर्म पर यन्त्र और ये यन्त्र एक के नहीं दो के नहीं, सहस्रों के कर्म को सोख जाते हैं । कर्म न करने वाला, पूजित हो बैठता है और कर्म करने वाला श्रमिक अपमानित । अकर्मण्यता पूजित है और कर्मण्यता तिरस्कृत । बड़ा वही जो दूसरे के रक्त पर जिये और छोटा वही जो रक्त की बूंद-बूंद पसीना बना बड़ों की सेवा में बहा दे ।

श्रम न करना पड़े इसलिए बने हैं ये यन्त्र । श्रम न करना पड़े इसलिए हैं ये सेवक । श्रम को समाप्त किया जाये, इसीलिए तो उतरे हैं ये कम्प्यूटर ...... । सहस्रों व्यक्तियों का कार्य एक निर्जीव यन्त्र करेगा । कैसा और कितना है विचित्र यह ? व्यक्तियों को काम मिले इसलिए अवसर खोजे जा रहे हैं, नई-नई योजनाएँ बन रही हैं और काम न करना पड़े, इसलिए यन्त्र लाये जा रहे हैं । परस्पर-विरोधी प्रयास ।

कहीं-न-कहीं त्रुटि है, इस चिन्तन में, इस तन्त्र में । एक ओर हम कार्य के क्षेत्र खोजते हैं तो दूसरी ओर कार्य के द्वार बन्द कर देते हैं । या तो हम कार्य के क्षेत्र का विस्तार करें, जिससे सभी को कार्य मिले अथवा हम कार्य को कम करते चले जायें जिससे कि हमें कर्म न करना पड़े और श्रम के कठिन पंजों से हमें मुक्ति मिले ।

कर्म न करना पड़े, यह असम्भव है । हम इसी की ओर दौड़ रहे हैं । यह हमारा दुर्भाग्य है । हमने मशीनें इसीलिए जुटाई हैं और नये-नये आविष्कार चल रहे हैं, चलते रहेंगे और असम्भव को बाँधने के लिये दौड़ते हुए एक दिन जब मुँह के बल गिर पड़ेंगे, तो सम्भव के चरण पकड़ रोयेंगे और सम्भव सँभालेगा भी तो हम कर्म करने के अभ्यस्त न होने के कारण खड़े भी न हो सकेंगे । कैसा भयावह होगा वह दृश्य ? आज भी व्यक्ति, जो मीलों पैदल चलता था चलने का अभ्यास छोड़ कर, चार कदम पैदल नहीं चलना चाहता तो चल भी नहीं पायेगा ।

कर्म करना पड़े, यह सम्भव ही नहीं निश्चित है । यही विधान है । सृष्टि का नियम है । इसीलिए हाथ हैं । इसीलिए चरण हैं । इसीलिए बुद्धि है । कर्म करें, कर्म से भागें नहीं । कर्म से बचा नहीं जा सकता । हाँ, इतना अवश्य है कि पीड़ा देने वाले कर्म को आनन्द देने वाले वरदान में हम अवश्य बदल सकते हैं ।

[पैसे के संकेतों पर ही समाज नाच रहा है। कर्मचारी हो या अधिकारी उसी के गुलाम है। इन्हें पैसे से मतलब है, कर्म से नहीं। कहाँ रुकेगा अकर्मण्यों का यह काफिला ?]

आज हम कर्म को माध्यम मानकर चलते हैं और उसके बदले में 'पूंजी' की कामना करते हैं। कर्म का प्रतिफल चाहते हैं, पैसों में। समस्या यही है। इसीलिए यह नारे हैं "जैसा काम वैसा दाम," "कमाने वाला खायेगा," "मेरी मांगें पूरी हों चाहे जो मजबूरी हो।" पुलिस वाला इसलिए कर्म नहीं करता कि उसका दायित्व है, अपितु इसलिए कर्म करता है क्योंकि उसे वेतन मिलता है। शिक्षक इसलिए शिक्षा नहीं देता क्योंकि शिक्षण उसका धर्म है, अपितु इसलिए पढ़ाता है क्योंकि उसे वेतन मिलता है, सीमा पर प्रहरी इसलिए नहीं खड़ा है, क्योंकि वह मातृभूमि की रक्षा में रत है, अपितु इसलिए खड़ा है, क्योंकि वह वेतन पाता है। यह कर्म के बदले फल—पूंजी—की कामना समाज की निष्ठाओं को ध्वस्त कर रही है। फल की भूख बढ़ती जा रही है और दायित्व पीछे सरकता जा रहा है। फल जब बिना कर्म के मिल रहा हो तो फिर कर्म क्यों किया जाये ? प्रमुख फल है, कर्म नहीं। फल मात्र पैसा है, किसी का हित नहीं। इसलिए पैसे के संकेतों पर ही समाज नाच रहा है, उसी की दासता से बंधा बैठा है। कर्मचारी हो या अधिकारी, उसी के गुलाम हैं।

'अर्थ' की दासता के बन्धन को तोड़ें। 'कर्म' को ही हम फल स्वीकारें। 'कर्म' ही हमारा साध्य बने। 'कर्म' में ही हम आनन्द लें। क्रिकेट का खिलाड़ी क्या क्रिकेट में होने वाले श्रम में आनन्द नहीं लेता ? दौड़ने वाला धावक क्या दौड़ने में आनन्द नहीं लेता ? मन्दिर की स्वच्छता में जुटने वाला भक्त क्या स्वच्छता के श्रम में आनन्दित नहीं होता ? देश के लिए जूझने वाला देशभक्त क्या आनन्द में नहीं नाच उठता ? पूछिये दशरथ-नन्दन से, सुनिये मिल्खा सिंह से, सोचिये राम कृष्ण की ओर ध्यान दीजिये भगत सिंह का। क्या पैसे का आनन्द उन्हें कर्म के लिए खींचता था ? क्या प्रलोभन उनके कर्म का आधार था ? नहीं, नहीं। 'कर्म' ही उनका फल था। श्रम में ही उन्हें आनन्द था। 'कर्म' को 'दायित्व' के भारी बोझ से निकाल, उन्होंने खेल के आनन्द और भक्ति के रस में डुबो रखा था। खेल का आनन्द ताड़का-वध करा सकता है, काली नाग को नाथ सकता है, सिंह के दांत गिन सकता है, सिंह को फाड़ सकता है और भक्ति का रस अपने को दीवारों में चुनवा सकता है, फांसी के फन्दे पर झूला सकता है, सीने पर गोली खा सकता है। भक्ति का आकर्षण ही तो है, जो जापान को, जर्मनी को, इजरायल को संसार में सिरमौर बनाकर उठाये है। देशभक्ति से प्रेरित वहाँ का बेटा हड़ताल भी करता

है तो अधिक काम करने की । देशभक्ति की लहर में अकर्मण्यता कूड़े-करकट की तरह एक तरफ आ टिकती है और कर्मण्यता की वही हरहराती शक्ति देश को कर्म की पावन धारा प्रदान करती है ।

जर्मनी और जापान इसी धारा से उभरे हुए पावन प्रतिमा के स्वरूप हैं जिन्हें विश्व आँख उठा, गौरव से देखता है । यह कर्म का ही आनन्द है । जब कर्म में आनन्द आयेगा, जब भक्ति से प्रेरित हो हम कर्म का रथ लेंगे, तब कर्म के लिये मन मचलेगा, भुजाएँ फड़केंगी, चरण चल पड़ेंगे । 'कर्म' से कौन भागना चाहेगा फिर, क्या सुभाष के घोड़े को कोई थाम सकेगा ? क्या गांधी के सत्याग्रह को कोई रोक सकेगा । नेहरू की ललकार उठेंगे 'आराम हराम है' । कर्म में आनन्द जो है, न । कर्म के लिए कौन माँ घबरायेगी ? अपने बेटे के लिए क्या हाथ से बनाकर भोजन न देना चाहेगी ? उसका प्यार क्या बेटे को होटल पर जाने देगा ? नहीं । वह कर्म में आनन्द लेगी, बेटे के लिए पसीना बहाने में प्रसन्न होगी । कर्म में आने वाला आनन्द मशीनों को बाहर फेंकेगा । कर्म के अवसर समाप्त नहीं होंगे, सभी को मिलेंगे । 'कर्म' पूज्य होगा, मशीनें नहीं ।

श्री मद्भगवद्गीता में कर्म और फल दोनों को अलग-अलग रखा गया है । कर्म लोकसंग्रहार्थ एवं ईश्वरभक्ति के रूप में करना है—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
>
> (९वाँ अध्याय २७)

हे अर्जुन तुम जो कुछ खाते हो, जो कुछ करते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो । हमारे कर्म का लक्ष्य भगवद् आराधन हो सकता है । देश आराधन हो सकता है । ऐसे भक्तों की चिन्ता का भार स्वयं भगवान् ने अपने ऊपर लिया है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
>
> (९वाँ अध्याय २२)

जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य कर्मयोगियों के योगक्षेम का मैं विचार करता हूँ ।

इस प्रकार कर्म की प्रेरणा 'पूँजी नहीं'; 'धर्म' है । कर्म फल की कामना के लिए नहीं, ईश्वरभक्ति के लिए है ।

ऐसे कर्म में केन्द्रीयकरण कहाँ ? ऐसे कर्म में पूँजी का संचय कहाँ ? यह तो जन-जन का कर्म है । समाज के जन-जन के लिए कर्म का फल है, चाहे कर्म एक ही

व्यक्ति का क्यों न हो। कर्म में व्यक्ति स्वतन्त्र है। वह पैसे का दास नहीं। वह किसी का बिका हुआ सेवक नहीं। अपनी इच्छा से लगा हुआ कर्त्ता है और कर्त्ता भी आनन्द के लिए, भक्ति के लिए। उसके अपने कर्म से उसका पूर्ण विकास है। यही व्यवस्था तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था है, विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था है और समग्र क्रान्ति की वाहक व्यवस्था है। जहाँ कर्म के लिए सरकार के दरवाजे नहीं खटखटाने हैं। वह तो अपने द्वार पर बैठा, अपने मस्तिष्क व अपने श्रम के कौशल को निखारता है। अपने आनन्द में रमता है। अपने रस में डूबता है। शासन का मात्र संरक्षण चाहिए।

पैसा कर्म का स्रोत नहीं, मात्र आकर्षण है। जिसकी प्राप्ति के लिए कर्म का राजपथ नहीं, भ्रष्टाचार की पगडण्डियाँ बनी हैं। कर्म का राजपथ आज सूना है और पगडण्डियों पर लुटेरों की भीड़ है। दिन हो या रात कार्यालय हो या घर, विद्यालय हो या न्यायालय, सुन्दर और सभ्य दिखने वाले यह बटमार अपनी-अपनी पगडण्डियों पर आँखें गड़ाये बैठे हैं। शिकार आया और काम बना। इन्हें पैसे से मतलब है, कर्म से नहीं और पैसा अपने ढंग से मिलता है, कर्म से नहीं। निश्चय ही कर्म का सम्बन्ध बाहर के आकर्षण से नहीं अन्दर के भाव से है, जो उसे बैठने नहीं देता। आज यही भाव समाप्त हो गया है। इसीलिए वरदान अभिशाप बन रहा है। श्रम—जनसंख्या—लक्ष्मी का वाहक नहीं, लक्ष्मी का शोषक हो रहा है और शोषण करने वाले इस श्रम को समाप्त करना हमारा लक्ष्य हो गया है, आज। कहाँ रुकेगा अकर्मण्यों का यह काफिला? आलस्य में डूबा परिवार भोजन सामग्री का सीमित देख, आने वाले को आने नहीं देगा, तो यही बढ़ती हुई भावना परिवार के सदस्यों की एक-एक कर विदाई भी करना प्रारम्भ कर देगी। आज एक को परलोक भेजेंगे तो कल दूसरे को। यह मार्ग मनुष्यता का मार्ग नहीं है, कर्म का पथ नहीं है। भोग का पथ है।

हाथ उठाओ और सम्पदा पैरों पर लोटेगी। कर्म के आगे लक्ष्मी दौड़ी चली आती है 'कराग्रे वसते लक्ष्मी'। कर्म के लिए उठे दो हाथ पूरे परिवार का भरण-पोषण करते हैं। परिवार के जब पूरे हाथ उठेंगे तब, परिवार ही नहीं, देश और देश को लाँघ कर विश्व में सम्पदा बिखरेगी। बस पेट को भरना ही न सीखें, पेट से ऊपर उठकर, कर्म की देहरी पर, दोनों हाथ लगायें। कर्म के लिए एक साथ करोड़ों हाथ उठे और लक्ष्मी करोड़ों हाथों में ही नहीं, घर-आँगन, डगर-डगर बरसे। रेगिस्तान और पथरीली धरती के बेटों ने, जहाँ पीने को भी पानी नहीं, अपने कर्मठ हाथों को कर्म के लिए, आकाश में उठा लक्ष्मी और शक्ति का चेरी बना रखा है। भला भूल सकता है कोई आज इजरायल को। ध्वस्त होने के पश्चात्,

पौरुष के बल पर जर्मनी सीना तान खडा हो गया। मिट्टी मे मिल जाने के बाद भी, टापुओं पर पड़ी 'कर्म' की चिन्गारी को जुटाते हुए जापान संसार का सिरमौर बन गया। क्यों? क्या नौकरी की भावना से? क्या अपने लिये पैसे बटोरने की भावना से? नहीं। भक्ति की प्रबल धारा से, देशभक्ति के प्रचंड प्रवाह से। कर्म देश के लिए, कर्म देश के सम्मान के लिए, कर्म विश्व-कल्याण के लिए यही यह पथ।

इसलिए, देशभक्ति की धारा उमड़ने दें, बहने दें, तीव्र बहने दें, इतनी तीव्र कि सत्ता और स्वार्थ की समस्त कामनाएँ बह जायें, भ्रष्टाचार का व्याप्त कचड़ा बहता हुआ सागर में जा विलीन हो जाये, अकर्मण्यता प्रवाह मे बहने लगे और सर्वत्र कर्म की भागीरथी हहरने लगे। जीवन सम्पन्नता और सुख से भर उठे। धर्म भूमि भारत फिर से कर्म भूमि बन सरसे—लक्ष्मी चरणों पर लोटे। समस्त समस्याओं का निदान है—देशभक्ति।

□

10031

लोक-कर्त्तव्य के निर्वाह का साधन

सृष्टि चलने का क्रम है, रुकने का विधान नहीं। प्रलय के हाथ जिसे थाम न सके, विनाश के चरण भी जिसे विराम नहीं दे सके। विपत्तियों की आँधियाँ आयीं और गयीं, विप्लव के बादल बरसे और साफ हुए। प्रकृति के अमर चिह्न किसी के झुकाये न झुके। अवरोधों को रौंदते, वे उठते हुए, बढ़ते गये। हिमाद्रि उठा तो उठता गया, सरग माथा (माउण्ट एवरेस्ट) सरग का मस्तक छूने लगा, ब्रह्मानन्द बाँधों की बाढ़ तो सागर में ठहरने लगा। यही तो जीवन्तता है। यही तो जीवन है। कौन जीना नहीं चाहता ?

जड़ हो या चेतन, किसी के चरण जीवन की डगर पर थमे नहीं। धरा, अपना अस्तित्व ले, सूर्य के चतुर्दिक्, नर्तन में लगी तो लगी, कभी रुकी नहीं। चन्दा परिक्रमा के पथ पर कब रुका ? धरा के चारों ओर उसकी चाल चलती रही और चल रही है। वेग से उफनती सरिताएँ धरा पर, सागर से मिलने, आकाश को चूमती ऊँचाइयों को छोड़, दौड़ीं, तो दौड़ी जा रही हैं। घहराते-मँडराते बादल, सागर की गोद छोड़, पर्वतों की चोटियों को चूमने और चूमकर बरसने उमड़े-तो रुके नहीं-बरसे जा रहे हैं। कहाँ रुकी है, जीवन की दौड़ ? पक्षियों में चहक, पुष्पों में गन्ध, पशुओं में दहाड़, पुरुषों में कर्म, उसी की तो दौड़ है। सर्वत्र दौड़ रहा जीवन।

जीवन का प्रवाह समग्रता में है; अकेलेपन में नहीं। पर्वत हो या सागर, मेघ हो या सरिता, पशु हो या पक्षी, पुष्प हो या पुरुष, अकेला निष्प्राण है। मेघ के बिना जल, जल के बिना सरिता, सरिता के बिना सागर, कौन सोचेगा ? जीवन चैतन्य का स्पन्दन सभी को साधे है। अलग किसी का अस्तित्व नहीं। सब उसी चैतन्य के अंश हैं, उसी विराट् के अंग हैं, विराट् उसमें व्यक्त है।

विराट गया तो व्यक्ति शून्य हुआ। समष्टि के बिना व्यष्टि की कल्पना कैसे ? इस समष्टि को संज्ञा कौन-सी दें ? समष्टि जिसमें, स्थूल, जड़ और चेतन सभी समा जायें। समष्टि, जो सर्व को समेट, सीमाओं को लाँघ जाय। समष्टि, जो राजनीतिक दीवारों की सीमाएँ तोड़, अपने अर्थ की पूर्णता की ओर बढ़ जाय। 'राज्य' कहें तो इकाई राजनीति की सामने आती है, 'समाज' कहे तो व्यक्ति छोड़

शेष सृष्टि छूट जाती है, 'राष्ट्र' की सीमा भी छोटी पड़ जाती है। यह विराट् तो बाँधे नहीं बँधता। 'विश्व' भी तो भौगोलिक क्षेत्र के विस्तार का भाव है, मात्र। 'जन' यहाँ ठहरता नहीं, 'प्रजा' का प्रश्न नहीं। चलें, चिन्तन के कोष में, अतीत के पृष्ठों को पलटें-देखें शब्दों के व्याप को।

हाँ, शब्द है 'लोक'। सभा, सभ्य और सभ्यता से भी पुराना-एक आधार-भूमि और उत्स। 'राज्य' तो बहुत पिछड़ी कड़ी है। लोक' एक ऐसी सर्वतोन्मुखी धारणा है कि उसमें दृष्टि-द्रष्टा-दृश्य' कर्ता-कर्म-क्रिया, विषय-विषयी' का समाहार और समन्वय है। इस प्रकार लोक की महत्ता सर्वोपरि है। अपने विस्तार से यह सार्वभौम मानवता और अखिलता को भी पार कर जाता है और सकोच में स्वार्थ तक को पचा जाता है।

धरा से जन्मा बेटा-धरा के लिए है धरा के साथ। धरा का पुत्र, अपने सम्पूर्ण प्रयासों, परिणामों-अतीत, वर्तमान भविष्य-को ले अपने लोक का व्याप बनाता है। मानव धरा की ही तो देन है। धरा ही उसमें बैठी है-माँ ही उसमें बोलती है। वह उसकी हड्डी और मांस में तथा उसके मस्तिष्क और आत्मा में प्रवेश कर गयी है। भौगोलिक इकाई देश पर खड़ा उसका सहज विकास, एक लोक का क्षेत्र है, जिसमें धरा है और जन भी, काल भी है और क्षेत्र भी, अपना जीवन है और अपनी दिशा भी।

'धरा से जन्मा पुत्र धरा के लिए' एक पूर्ण चक्र है। विकास का सहज रूप। व्यक्ति माँ की गोद से आँगन-आँगन से गली, गली से गाँव, गाँव से जनपद और जनपद से आगे समाज की बृहत् इकाइयों को लाँघता विराट् समाज-सागर में, सरिता-समान, समर्पित हो जाता है। व्यष्टि, समष्टि में खो जाता है। नर, नारायण में रम जाता है। व्यक्ति का विकास इसी समर्पण की कसौटी पर आँका जाता है। मानव ईश्वर की चेतना का उत्तराधिकारी है। उसके अन्दर सृजन की प्रेरणा है। वह स्वयं को, स्वयं से ऊपर उठा सकता है। यही चेतना तो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी और पाषाण को भी बाँधती है। समष्टि के साथ एकात्मकता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है।

प्राकृतिक सीमाओं से संरक्षित, एक निश्चित भूखण्ड पर अनादि काल से चलता चला आया समाज, सुख-दु ख के अनुभवों को लेता हुआ, एक निश्चित जीवन-पद्धति विकसित करता है। प्रकृति के साथ सघात में उपजी यह जीवन-पद्धति ही उसकी संस्कृति है। भूखण्ड की प्रकृति के समस्त लक्षण, इस संस्कृति में व्याप्त हैं। भारत की विशालता, भारतीय को मन से विशाल बनाती है, भारत की सम्पन्नता भारतीय को उदार बनाती है भारत की विभिन्नता भारतीय को समन्वय का पाठ

पढाती है, भारत की प्राकृतिक पूर्णता, भारतीय को पूर्ण जीवन-दर्शन का आचरण सिखाती है, भारत की जलवायु, भारतीय को पुनर्जन्म का सिद्धांत समझाती है, भारत की सरिताओं का कल-कल कर हिमाद्रि से अरब सागर मे मिलन, भारतीय का समष्टि-हित समर्पण का पाठ पढाता है।

समाज मे, समाज की धरती बोला करती है। समाज, समाज की धरती और समाज-जीवन-पद्धति मिलकर ही तो लोक है। समाज धरती मे जुड़ा है, समाज के जन-जन मे माँ धरती का भाव है। अतीत मे धरती पर जन्मे पुत्र, उसके पूर्वज हैं, वर्तमान के वासी, उसके भाई है और भविष्य के वासी, उसके सुखद सुत। एकात्म की धारा मे बँधा है, सम्पूर्ण समाज। एक उसका लक्ष्य है, एक उसकी दृष्टि है, एक उसका पथ है और एक ही जीवन है। यह विराट् पुरुष है, जिसके करोडो कर है परन्तु कृति एक है, करोडो चरण है, परन्तु गति एक है, करोडो नेत्र हैं, परन्तु दृष्टि एक है। इस लोक-अनुभूति को जो अपने जीवन मे जी सका, इस धरती के वैशिष्ट्य को जो अपने आचरण में उतार सका, इस समाज-धर्म को जो लेकर चल सका, वही हमारा आदर्श है-सबका आदर्श है।

मतदाताओं का समूह नहीं

यह 'लोक' व्यक्तियो का जमघट नही, मतदाताओं का समूह नहीं, अपितु स्वयंभू, सावयव जीवनमान अस्तित्व है- एक विराट् पुरुष-जिसके हम सब घटक हैं, हम सब अवयव हैं। इन अवयवो को परिचालित करने वाली, एक सूत्र में पिरोने वाली, एक चैतन्य शक्ति, शरीर की अस्मिता है।

इसे चिति कहिये। जो सब मे समान रूप से स्पन्दित है। इसका स्पन्दन बनता रहे—सबमे समान-यही स्वस्थता का लक्षण है। जहाँ स्पन्दन अवरुद्ध हुआ कि अंग शिथिल। इस लोक को संभालना ही तो लोक-धर्म है। व्यक्ति का पूर्ण विकास, समाज का पूर्ण उत्कर्ष, धरा का पूर्ण चैतन्य और सनातन समाज जीवन धारा का—अतीत की गहराइयो से भविष्य की ऊचाइयों तक-पूर्ण प्रतिफलन हो, ऐसा चाहिए पथ, ऐसा चाहिए तन्त्र।

दायित्व की पावन धारा, समष्टि के पावन गोमुख से निकली है। भारतीय जिसे पंच यज्ञो मे जीता है, उसी के सहारे 'लोक रथ' चला है। लोक मे व्यक्ति का विलय और विलय से व्यक्ति का उदय। जितना विलय उतना उदय। विलय की जितनी गहराई, उदय की उतनी ऊँचाई। लोक का तन्त्र केवल शासन का तन्त्र नहीं केवल राज्य की व्यवस्था नही, समाज की केवल अवस्था नहीं, वह तो सम्पूर्ण जीवन की व्यवस्था है।

लोकतन्त्र माने जीवन-पद्धति

लोकतन्त्र तो जीवन-पद्धति है। यह जीवन का ढंग है। जहाँ स्वार्थ का कूप नहीं, सेवा का सागर हिलोरें लेता है। शोषण नहीं समर्पण चलता है। सत्ता नहीं, समाज पूजित है। तन्त्र नहीं, लोक-आधारित है। लोकतन्त्र में लोक ही सब कुछ है। सत्ता का तन्त्र कोई हो—किन्तु नियन्त्रण लोक का, यही उसे लोकतन्त्र का स्वरूप देता है। राजतन्त्र पर लोकतन्त्र का यह नियन्त्रण भारतीय राजनीति की अपनी विशेषता है।

राम का 'एकतन्त्र' आज के प्रजातन्त्र से कितना अधिक लोकतांत्रिक है। जहाँ राम के कार्यों में 'लोक-इच्छा' का स्पन्दन है, राम के कार्यों पर 'लोक-इच्छा' का नियन्त्रण है और राम के जीवन में 'लोक-इच्छा' का आराधन है। इससे अच्छा और लोकतन्त्र विश्व में कहाँ है? इससे अच्छे लोकतन्त्र की और कौन कल्पना की जा सकती है?

पश्चिम में जिस राजसत्ता के कारण राजतन्त्र का विरोध हुआ, वही राजसत्ता लोकतन्त्र का अधिकार और अस्त्र बनी। आज इसी तन्त्र की ओट से सत्ता हथियाने वालों के द्वारा, उसी अस्त्र के द्वारा, लोकतन्त्र की हत्या के अनैतिक प्रयास हुये हैं। आज सत्ता में सरकारें निर्वाचित तो हैं, पर लोकमत द्वारा नियन्त्रित नहीं। लोग, नाम के लिए अपने स्वामी हैं, पर वास्तव में वे दास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। हों भी कैसे? जब सभी सत्ता की ओर ही देखते हैं, प्रत्येक निदान के लिए सत्ता का संकेत जोहते हैं और अपने पैरों की शक्ति के लिए सत्ता के पैरों पड़ते हैं। यह दिशा ही विपरीत दिशा है। यह विचार ही गलत है।

सत्ता की शक्ति तो समाज के हाथों बनी है। लोक-शक्ति ही सत्ता की शक्ति का स्रोत है। सत्ता समाज की रचना है। समाज ने उसे ढाला है। समाज उसका स्वामी है। वह चेरी है। चेरी से रानी बनी कि विनाश हुआ। राजा अपनी प्रजा का स्वामी नहीं है: वह उसका एक आनुष्ठानिक प्रतीक है। राजा को प्रजा छोड़ सकती है, राजा प्रजा को नहीं छोड़ सकता। राम कहते हैं 'मैं आप सबको छोड़ सकता हूँ, अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, लेकिन प्रजा को नहीं छोड़ सकता।' राम-राज्य की यही विशेषता है। इसीलिए तो वे आदर्श हैं। राम शासन करने वाले से अधिक लोक-धर्म से शासित होने वाले हैं। वह बड़े राजा इसलिए नहीं, कि वह पराक्रमी हैं या बुद्धिमान हैं या उदार हैं, अपितु आदर्श राजा इसलिए हैं कि वे मर्यादाओं से बँधे हैं, प्रजा उनके लिए सर्वस्व है, उसी की आराधना में रत हैं। वह प्रजा से ऊपर नहीं, वे प्रजा के हैं। प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सच्चा और स्थायी है।

कर्मक्षेत्र अनेक दृष्टि एक

क्षेत्र कोई भी क्यों न हो, लोकतन्त्र लोक-कर्तव्य के निर्वाह का साधन है। कर्तव्य व्यक्ति की आराधना का हो या समाज की साधना का, अतीत के आधार पर खड़े होने का या भविष्य की कल्पनाओं को साकार करने का, कर्तव्य लोक धरातल पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसमें लोक की भावना चाहिए, लोक की धारणा चाहिए। लोक-विमुख कर्तव्य कर्तव्य नहीं हो सकता। अपनी साधना भी लोक-हित में जुड़ी साधना है। जहाँ लोक का अहित हो, वहाँ अपना हित कैसा? प्रत्येक कर्म में लोक सामने है। कर्म के क्षेत्र अनेक हैं, पर कर्म की दृष्टि एक है। पशुत्व से मनुष्यत्व, मनुष्यत्व से देवत्व और देवत्व से नारायणत्व प्राप्त करने की यही तो दिशा है। समर्पण के बढ़ते हुए स्तर के साथ, व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्तर भी बढ़ता है। लोक-हित कसौटी है कर्म के स्तर की। व्यक्ति हो या समाज, इसी कसौटी पर अपने को कस, सभ्य कहलाने का दावा करता है।

शासन में लोकतन्त्र

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा किसी व्यक्ति, किसी परिवार, किसी वर्ग किसी समुदाय के हित में नहीं, अपितु समष्टि रूप से जनता के हित में शासन करती है। यहाँ दैवी विधान किसी को सत्ता नहीं सौंपता, लोक ही सत्ता सँभालता है। लोक-हित उसके लिए सर्वोपरि है। सत्ता तो मात्र साधन है। इसीलिए सत्ता पर बैठे हुए लोक के प्रतिनिधि, लोक के प्रति उत्तरदायी हैं। जनता की इच्छा ही यहाँ सर्वोपरि है। लोकतंत्र शासन वह शासन है; जिसमें शासन जनता का, जनता के लिये और जनता के द्वारा हो। प्रभुसत्ता, जनता में निहित हो। उसकी इच्छानुसार सत्ता में वे लोग शासन करें।

राज्य में लोकतन्त्र

जहाँ मताधिकार और भाषण की स्वतन्त्रता तो है, परन्तु शोषण का साम्राज्य है, वहाँ लोकतन्त्र कैसा? अल्पतन्त्र पूँजी का बटोर श्रम के पसीने को चूसते हुए उद्योगपतियों के हाथों में लोकतन्त्र को गिरवी रख दे, तो वह लोकतन्त्र कैसा? लोकतन्त्र में तो प्रभुत्व जनता का है, नियन्त्रण जनता का है और लक्ष्य जनहित का है। लोकतंत्र में सत्ता नहीं लोक समर्थ है। लोक का जन-जन सचेत है। गाँव-नगर, खेत-खलिहान, मकान-दुकान सर्वत्र यही चैतन्य है। नागरिक अपने अधिकार, अपने कर्तव्य भूलते नहीं। अधिकार छोड़ते नहीं, कर्तव्य से भागते नहीं। न वे गूँगे हैं और न बहरे। आवाज उठाते हैं और शासन में उनके हाथ, पैर भी चलते हैं। लगता है कि लोक-इच्छा शासन करती है, लोक-इच्छा नियन्त्रण करती

है और लोक-इच्छा का सभी कर्मों में स्पन्दन होता है। नागरिक की प्रतिष्ठा उसमें स्थापित है।

समाज में लोकतन्त्र

सब व्यक्ति समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सुख किसी भी अन्य व्यक्ति के सुख के बराबर है। किसी को भी अन्य व्यक्ति के सुख के लिए साधन नहीं बनाया जा सकता। समानता का विचार ही लोकतन्त्र को बाँधता है। यह आधार न न इंग्लैण्ड में है, न अमेरिका में और न आज अपने देश में। इंग्लैण्ड में वंश और उपाधियों के आधार पर कुछ को विशेष सम्मान है। अमेरिका में काले लोगों का स्थान नहीं, भारत में अस्पृश्यता आज भी जकड़े है। समानता और स्वतन्त्रता की जीवन-रेखाएँ, आधारभूत रेखा-बन्धुत्व की भावना पर चलती हैं। लोकतान्त्रिक समाज इन्हीं रेखाओं से बना एक त्रिभुज है। एक भी रेखा में हटते ही समाज का लोकतान्त्रिक रूप मिट जाता है।

व्यर्थ है वह कर्म, जो कुछ दे न सका। व्यर्थ है जीवन, जो न बना, न बना सका। व्यर्थ है व्यवस्था, जो न बँधी, और न बाँध सकी। कर्म का, जीवन का, व्यवस्था का कुछ मूल्य है। मूल्य न रहा, तो कर्म कैसा? जीवन कैसा? व्यवस्था कैसी? मूल्य ही तो आधार है अस्तित्व का। आचरण इसी बल पर, आदर्श बनाता है। आज तो हम कहते हैं, करते नहीं, विचारते हैं, आचरण में नहीं लाते, तभी तो 'सत्य बोलो' शब्द हैं पर अर्थ कहाँ? प्राण कहाँ? उनमें शक्ति कहाँ? 'लोकतन्त्र' है पर भाव कहाँ? लोक की शक्ति कहाँ? इकाई में निहित मूल्य का लोप हुआ, तो इकाई कैसी? इसी पर तो इकाई का भवन खड़ा है।

लोकतन्त्र का मन्दिर बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की नींव पर राष्ट्रीयता, स्वचेतना, लोक सम्प्रभुत्व और धर्मनिरपेक्षता की दीवारें ले, लोकमत के सम्बल पर, लोक-भावना की पताका फहराता खड़ा है। इसमें लोक का देवता प्रतिष्ठित है। इस मन्दिर में उसी की साधना है वही आराध्य है, वही साध्य है। देवता के बिना मन्दिर सूना है। देवता की भावना के बिना मन्दिर निष्प्राण है, इसलिए लोकमत के हाथों लोक भावना की पताका फहराती रहे, लोक-मत स्व-चेतना, धर्मनिरपेक्षता, लोक संप्रभुत्व और राष्ट्रीयता की सबल प्राचीरों पर सधा रहे और सधी रहें ये प्राचीरें गहरी नींव पर-बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की।

एक भी नींव के हिलते ही प्राचीरें हिल जायेंगी और लोक-भावना की पताका नीचे आ गिरेगी। नींव से लेकर पताका तक सर्वत्र लोक-चैतन्य रमा है। इसी चेतना को राम, अपने आचरण में उतार राष्ट्र चैतन्य बने खड़े हैं। कण-कण धरा का और क्षण-क्षण काल का उनके कर्म में उतरा है। लोक-कल्याण के लिए माँ सीता का भी परित्याग करते हुए वे नहीं हिचकते। लोक-इच्छा उनके लिए सर्वोपरि है, उनका आराध्य है। हम आज इसी लोक की आराधना करें।

राष्ट्र ? स्वरूप ? साधना ! समस्या !

देश केवल राजनीतिक इकाई नहीं होता, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पक्ष इसके अस्तित्व का आधार होते हैं। राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक पक्षों के समुच्चय से राष्ट्र का जीवमान अस्तित्व विकसित होता है। पर्वतों, नदियों और मैदानों से ही केवल देश नहीं बनते। देश बनते हैं, पावन भूमि में पली परम्पराओं और सुनियोजित शासन-व्यवस्था के प्रतिफल से। देश भूमि का टुकड़ा मात्र नहीं यह एक विकासशील व्यक्तित्व है। भौगोलिक सीमाएँ इसके प्रसार का अंकन करती हैं, सम्पन्नता जीवन संचालित करती है, परम्पराएँ साथ देती हैं, और भाषा उनका गुंजन करती है। प्राणतत्त्व होता है इसका मातृत्व, जिसके संरक्षण में पलते हैं एक रूप हो समस्त इसके वासी। 'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।।'

राष्ट्र

भौगोलिक इकाई 'देश' जब अपने में, सांस्कृतिक इकाई 'राष्ट्र' एवं राजनीतिक इकाई 'राज्य' को स्वाभाविक रूप से समाविष्ट करती है और सीमाओं में कोई टकराव नहीं होता, तो यह देश का सर्वोत्तम चित्र होता है और वह चित्र है—

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

पुत्र के कर्तव्य की भावना ही तो राष्ट्र को सनातनता प्रदान करती है। जन्मभूमि पर मर मिटने वाले शहीदों के खून से ही तो राष्ट्र-प्रेम की लहर प्रज्वलित रहती है और उसके कारण देश की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है। देश का अस्तित्व, जंगलों और पहाड़ों से नहीं, शहीदों के शौर्य से, बहिनों के सतीत्व से और माताओं के त्याग से रहता है।

राज्य बदलते हैं, राष्ट्र बदला नहीं करते। सत्ता बदल जाती है; राष्ट्र के व्यक्तियों की निष्ठा नहीं बदलती। राष्ट्र और व्यक्ति का सम्बन्ध माँ और पुत्र का सम्बन्ध होता है जो भावनता के धागे में बँधा राष्ट्र को अमरता प्रदान करता है। राष्ट्र अपने राजनीतिक परिवर्तनों के बीच से निकलता हुआ सदैव जीवित रहता है। अवस्थायें बदल सकती हैं, उत्थान और पतन हो सकते हैं। भू राजनीतिक जीवन में राज्य की अवस्थाओं का परिवर्तन चक्र चलता रहता है। पुरातन राष्ट्र

भारत में, राजनीतिक इकाई के 'स्व' का पुनः विकास १९४७ में हुआ। विश्व के मानचित्र पर, वृद्धावस्था को प्राप्त अमेरिका, तरुणावस्था को प्राप्त रूस के साथ ही उगते हुए सूर्य की सामर्थ्य ले, भारतीय गणराज्य १९५० में उदित हुआ।

स्वर्णभूमि

साधनों से भरपूर, शक्ति से समर्थ और पावन परम्परा से युक्त भारत सभी आक्रमणों को झेल रहा है। साधनों की प्रचुरता के कारण ही 'सोने की चिड़िया' कहलाया। प्रकृति ने, उत्तर में हिमाद्रि, दक्षिण में पठार—सह्याद्रि—और दोनों के मध्य में सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र का मैदान, उपहारस्वरूप दिये हैं। यह मैदान ही विश्व को भोजन देने में समर्थ है। हिमाद्रि की देन इस मैदान में देश के ४५ प्रतिशत जन निवास करते हैं। भारत की नदियों में सतत प्रवाहित अथाह जलराशि अपार जलविद्युत की सामर्थ्य (४११ लाख कि०वा०), अणुशक्ति की प्रचुर मात्रा से उपलब्धि (१४००० टन यूरेनियम + २० लाख टन थोरियम), पेट्रोलियम की धरातल के नीचे बहती लम्बी धारा (६०० करोड़ टन, देश की शक्ति का सबल आधार देती है। विश्व की १५ प्रतिशत जनसंख्या और २० प्रतिशत पशु संख्या विश्व के २.४ प्रतिशत क्षेत्रफल—भारत में निवास करती है। अनुमानतः २१६० करोड़ टन कच्चा लोहा, ११ करोड़ टन मैंगनीज, १४ करोड़ टन क्रोमाइट, ११८ करोड़ टन जिप्सम, ७३ करोड़ टन बाक्साइट, ५७१.७३ लाख टन सोना आदि के भण्डार भारत में निहित हैं। फिर भी भारतीय निर्धन हैं। भारत पिछड़ा है। भारत भिखारी है। डॉ० वीरा ने ठीक ही कहा है—

'भारत निर्धन लोगों से बसा एक धनी देश है।'

"India is a rich country inhabited by the poor." स्वर्णिम अतीत पर विपन्नता का स्वरूप शोभा नहीं देता। सोने की चिड़िया, चुगने के लिए, विदेश की धरती निहारे, लज्जा की बात है। राम और कृष्ण की धरती, हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ जाय और भीख की रोटी पर पले? कितनी बड़ी विडम्बना है? विक्रमादित्य और अशोक का देश, मास्को और वाशिंगटन के संकेतों पर, कठपुतली बन नृत्य करे, आश्चर्य नहीं तो क्या है? राणा और शिवा का शौर्य भूल, गुरु गोविन्द सिंह और हरीसिंह नलवा की निष्ठा त्याग, गौतम और गांधी की साधना छोड़, कायरता के घूंघट में, विदेश भक्ति का जाप करे, उस नेतृत्व को संज्ञा कौन-सी दी जाय? स्वामी विवेकानन्द का विस्मरण, देश को कहाँ ले जायेगा? डॉ० हेडगेवार के मार्गदर्शन की उपेक्षा, समाज का कौन-सा चित्र प्रस्तुत करेगी?

भारतीय संस्कृति के पावन मन्दिर में बैठ, वादों के विवादों में उलझा, भारतीय, रोटी और कपड़े की आरती क्यों उतार रहा है? भोजन—रोटी, कपड़ा

और मकान—के लिए दौड़ने वाले, भूखे पशु-से, भगवान्-विराट् समाज की भक्ति में क्यों मनुष्य के व्यवहार की अपेक्षा करना फिर कहाँ का न्याय है ? पशु तो पशु है। फिर दो हो या चार। भूख की संस्कृति पशुता की संस्कृति है। हिंसा, संघर्ष, वर्ग विभाजन, अधिकार और विघटन उसी, उपज है।

वैशिष्ट्य

भारतीय संस्कृति का पावन मंदिर, गौ, गीता, गायत्री और गंगा की गहरी नींव पर खड़ा है। ज्ञान, कर्म, शील और समन्वय जिसकी सुदृढ़ प्राचीरें हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की छत का संरक्षण जिसे प्राप्त है और मंदिर में विराजती है उस विराट् की पावन प्रतिमा जो सत्य है, सुन्दर है और शिव है। इस विराट् का उपासक, इस मंदिर की छाया में भोग का भिखारी कैसे बन सकता है ? सत्ता और सम्पदा उसकी आराध्या कैसे बन सकती है ?

प्रकृति की तूलिका ने, विश्व की समग्रता, भारत की सीमाओं में समेट कर रख दी है। विश्व की झाँकी भारत की आरसी में देखिए। आकाश को चूमती हिमाद्रि की ऊँचाई, पाताल को मापती सागर की गहराई, तप्त तवे-सा तपता राजस्थान, हिम से गलता कैलाश; बूँद-बूँद जल के लिए तरसता अरावली और अनंत मेघ धारा में नहाता बंगाल, प्राचीनतम चट्टानों पर लोटता सह्याद्रि और नवीनतम चट्टानों पर उभरता हिमालय, सौन्दर्य का घर कश्मीर और शौर्य की गाथा मेवाड़, ज्ञान का मंदिर काशी और कर्म की धरती अवध। असम के वन, बंगाल का चावल, पंजाब का गेहूँ, गुजरात की कपास, बिहार का कोयला, कोलार का सोना। क्या नहीं है इस भारत में ? विश्व की प्रयोगशाला है यह। तभी तो इसका दर्शन विश्व का दर्शन है।

साधना

निश्चय ही इसका लक्ष्य किसी एक वर्ग की सम्पन्नता का लक्ष्य नहीं हो सकता। इसका लक्ष्य भौतिकता-साधन-की उपलब्धि नहीं बन सकता। इसका लक्ष्य तो समग्र मानवता के लिए, सुख-शान्ति प्रदाता, विराट् पुरुष की अनुभूति में उसका सेवा-भाव से, अर्चन, वन्दन और पूजन ही हो सकता है। यही उपासना है, यही साधना है।

साधना में साधक, साधन और साध्य तीनों ही ऋजु रेखा में आ, सफलता को निश्चित करते हैं। साधनों की उपासना में भटक जाने से साध्य की उपलब्धि कहाँ ? राष्ट्र की साधना के लिए भारत श्रेष्ठतम धर्म की धरती है, कर्म की भूमि है समर्थ साधनों की सम्पन्नता है; अतीत के आदर्शों की प्रेरणा है, संस्कृति की

अमर चेतना है, कसौटी पर कसा हुआ दर्शन है और लक्ष्य स्पष्ट। फिर भटकाव कहाँ ? असफलता क्यों ?

भटकाव है साधक के मन में। असफलता है दिशा परिवर्तन में। साधक में मानव नहीं, इच्छाओं का पुञ्ज पशु बैठा है। दिशा साध्य की ओर नहीं साधनों की ओर मुड गयी है। साधनों की बहुलता और विभिन्नता ने, विभिन्न दिशाओं में मुख मोड दिये हैं। पथ एक नहीं अनेक बन गये हैं। फिर एकता कहाँ ? एकात्मता कहाँ ? व्यक्ति ही टूटा है तो समाज का पुरुष स्वस्थ कब ?

दुखद स्थिति

व्यक्ति के हृदय की विशालता सिकुड़कर, स्वार्थ के क्षुद्र और क्षणिक पंजे में बन्दी बन गयी है। मस्तिष्क की प्रखरता कल्याण की वाटिका छोड, शोषण और उत्पीडन के वीरानों में रम गयी है। आत्मा परमात्मा की साधना भूल मोह और ममता की शिकार बन गयी है। दोनों हाथों समाज का शोषण कर व्यक्ति स्वार्थ का महल खड़ा कर रहा है। घट-घट व्यापी सर्वशक्तिमान भ्रष्टाचार की आरती, सचिवालय, विद्यालय, न्यायालय, देवालय, किस स्थान पर नहीं उतारी जा रही है।

'सत्य' शब्दों का आवरण ओढ़ पुस्तकों में छिप गया है। कभी काले कोट को ही अस्पृश्य समझ, सत्य उसके निकट नहीं जाता था। परन्तु आज इस अस्पृश्यता की सीमा ने तो, खाकी हो या धवल श्वेत सभी वस्त्रों को अपने में ढँक लिया है। सुनते हैं विश्व रंगमंच है और व्यक्ति उस पर एक कलाकार। कहीं इसी अभिनय की पराकाष्ठा तो उसने प्राप्त नहीं कर ली है। मन में कुछ और है, कहता कुछ और है और करता कुछ और है। कितना सफल है अभिनय ? सत्य कहने की सौगन्ध उठाकर, न्यायालय में गांधी के चित्र के सामने, असत्य को अपनी वाणी का स्पर्श दे सत्य में बदल देने की अद्भुत क्षमता है इस अभिनय कला के कुशल खिलाड़ी में और उससे भी अधिक कुशलता अर्जित कर ली है आज न्यायपीठ पर बैठने वाले अस्तित्व ने। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से मुद्रित नजीरों के आधार पर अपना पवित्र निर्णय देकर, विक्रमादित्य स्वर्ग से आशीर्वाद दे रहे होंगे ? आपात्काल में कितने अधिकारी थे जिन्होंने सत्य आचरण का साहस किया ? कितने विधायक, सांसद और मन्त्री हैं जिन्होंने अपने निर्वाचन का सत्य व्यय-पत्रक दिया है ? झूठों का सम्राट् सत्य बोलने का उपदेश करे। परिणाम क्या होगा ? सामने है।

अहिंसा चीखती हुई, अपनी रक्षा के लिए, दर-दर की कुण्डी खटखटा रही है। विधान सभा और संसद में उसे घुसने का साहस नहीं होता। वहाँ पहले से ही उसकी सौत हिंसा विराजमान है। मुक्के और माइक से लेकर जूते और चप्पल तक उसने अपने अस्त्र धारण कर रखे हैं। विद्यालय में आज की युवा पीढ़ी,

ाहिंसा को प्रवेश दे अपने स्वाभिमान को धक्का नहीं लगाना चाहती। तरुणाई ू। अँगड़ाई लेगी ही। उसके लिए न्यायालयों और देवालयों मे भी अब 'प्रवेश निषेध' के पट लग गये हैं। बीहड़ो और थानो ने उसे पहले ही धक्का दे निकाल दिया। विवश हो गौतम और गांधी से प्रार्थना कर रही है कि उसे अपने पास ुला लें।

ब्रह्मचर्य का पाठ पुराना पढ गया है। ब्रह्म की—सत्य की—खोज तो बहुत दूर सर्वेन्द्रिय सयम का पाठ व्यर्थ आज की जीवन व्यवस्था और परिवार नियोजन के साधनो ने ब्रह्मचर्य को सादर नमस्कार कर उसे विदाई दे दी है। जिसे साहस हो ावाज दे।

चोरी सस्कार बन गया है। दूकानों पर कर की चोरी है तो कार्यालयो मे कर्म की। घर मे सैकडों की चोरी है तो सत्ता मे करोड़ो की। व्यक्ति की पोटली चोरी जाती है तो समाज की—सामान—शकर से लदी ट्रेन का ही पता नही रहता। विद्यार्थी परीक्षा मे चोरी करता है तो शिक्षक अध्यापन में। साहित्यकार भी चोरी ; मोर्चे पर पीछे नही हटता, शब्द नही, पंक्ति नही, पूरी कविता ही पार कर देता ू। राजनीति मे तो चोटी पर चढने की सीढी ही भ्रष्टाचार की बनी है।

समस्त सम्पदा का स्वामी बन जाना चाहता है व्यक्ति। निर्धनो और अस-ायो के रक्त मे अपने महल की दीवारें जोड रहा है। जमींदारी का एक वर्ग समाप्त हुआ तो उससे अधिक खूँखार नये जमींदारों का वेश उदित हो गया। देश की पूँजी सिमट-सिमट कर कुछ हाथों मे बैठने लगी। कही लाख तो कहीं करोड़। अन्तर धन की मात्रा का है, संचय की वृत्ति का नहीं।

भय का सर्वत्र साम्राज्य है। रात में भय है, दिन में भी भय। भक्षक से भय ू रक्षक मे भी भय। गैरों से भय, अपनो से भी भय। भाई को भाई से भय, माँ को बेटे के भय, बेटे को माँ से भय, पति को पत्नी से भय। भय परिवार की इकाई लेकर सत्ता की ऊँचाई तक आसीन हो गया।

पवित्रता स्वप्न बन गयी। तन मैला मन मैला। कैसी स्वच्छता और कैसी पवित्रता। सचिवालय से लेकर देवालय तक हर गली गन्दी और अपवित्र हो गयी।

कुंठा, आक्रोश, अविवेक, अशिष्टता और अन्याय अलकार बन गये। कैसा ैर्य ? कैसी क्षमा ? स्वार्थ पूर्ति के मार्ग में, जो भी अवरोध बन आया, झट उसे बिद' किया। 'स्व' सिमट कर अपने में रह गया। 'स्व' देश, 'स्व' संस्कृति, 'स्व' भाषा की चिन्ता कौन करे, जब अपनी तिजोरी और अपनी कुर्सी के लिए, देश को दानवो की झोली मे डाला जाय, अपनी संस्कृति छोड पश्चिमी संस्कृति के गीत

गाये जायें और 'स्व' भाषा हिन्दी को तिलांजलि दे, उर्दू और अँग्रेजी को पदासीन किया जाय। 'वन्दे मातरम्' विस्मृत हो जाय, राम और कृष्ण के गीत अपराध बन जायें, राणा और शिवा की जयकार नीकरों से ले जाय, गली-गली और गाँव-गाँव 'मम्मी', मैया को निर्वासित कर दे और 'पापा', पिता को स्वर्ग भेज स्वयं गृह-स्वामी बन जाय, यह राष्ट्र का विनाश नहीं तो और क्या है ?

दायित्व निर्वाह का प्रश्न ही नहीं। कर्मचारी हो या अधिकारी, सामान्य जन हो या नेता, किसान हो या व्यापारी, बस उसे चाहिए अपना हित और अपनी संतुष्टि। ईमानदारी बन गयी है अतीत की गाथा। वर्तमान में तो वह मूर्खता का पर्याय है। देवालयों और विद्यालयों में भी इसका काम नहीं रहा।

व्यक्ति और समाज के लक्ष्य बदलने के साथ ही नियम और आदर्श बदल गये हैं। ईंट पत्थरों का सम्मान बढ़ा है, इन्सान को घसीट समाज से दूर फेंक दिया गया है। लंका....वैभव—से रावण पूजित है, चित्रकूट के राम अकेले पड़ गये हैं।

निष्कर्ष

यह दिशा, हमारी दिशा नहीं है, यह मार्ग, हमारा मार्ग नहीं है, यह लक्ष्य हमारा लक्ष्य नहीं है। व्यक्ति का पूर्ण विकास हो, समाज का स्वस्थ स्वरूप निखरे, विश्व को दिशा मिले, यह लक्ष्य है अपना। और जो इस लक्ष्य को प्राप्त करावे वही है मार्ग, वही है नीति। व्यक्ति की श्रेष्ठ धारणा जिन गुणों में हो, समाज का उत्कर्ष जिन मूल्यों से हो, और विश्व का हित जिन आदर्शों से हो, वही गुण, वही मूल्य और वही आदर्श है हमारी नीति के। उन्हीं का पालन करना है नैतिकता।

राष्ट्र की धरती छिन जाये तो वापस आ सकती है। इजराइल सदियों बाद सम्मान से सीना तान खड़ा हो सकता है, साधन लुट जायें तो भी श्रम और विवेक पुन: राष्ट्र की झोली सम्पन्नता से भर सकता है, जर्मनी और जापान ध्वंस होने के बाद भी धनाढ्यों के सिरमौर बन सकते हैं। परन्तु समाज की नैतिकता समाप्त हो जाय तो धरती और साधन नैतिकता नहीं जुटा सकते। नैतिकता का विनाश, व्यक्ति को पशु बना देता है, परिवार को तोड़ देता है, समाज को भ्रष्ट कर देता है और देश को नीलाम कर देता है। आज यही नैतिकता का संकट देश पर छाया है। इसलिए ईंट पत्थरों का निर्माण नहीं, इन्सानों का निर्माण करें, इन्सान बना तो देश बन जायेगा।

□

सरयू से गोमती तक-यात्रा एक रथ की

माँ धरती की गोद मे लेटी सतत प्रवाहशीला सरयू, अवधपुरी मे रुमकते राम की पैजनियो की रुनझुन मे अपने को खो बैठी, खिल उठी, उनकी किलकारियो मे और वेगवती बन वही थी विकास पर, उनके बढ़ते चरणो के साथ। उसने राम का प्रगटन देखा बचपन देखा, यौवन देखा और देखा माँ सीता के साथ मिथिला से आगमन। कभी अश्रुपूरित नयनो से देखा राक्षसों के वध के पश्चात आते सीता समेत राम का रथ। राम को राजा राम बनते देखा अयोध्या को बनते और बिगड़ते देखा बसते और उजड़ते देखा। सरयू के अतिरिक्त कौन दूसरा है साक्षी, इस सतत सांस्कृतिक प्रवाह का, रामके रामत्व का, उनकी लीला का, जन-जन-मे बसे भक्ति प्रवाह का।

वर्षों से पड़ी, उदास जिसकी प्रतीक्षा मे है वशिष्ठ नन्दिनी। बन्दिनी है क्या? हाँ बन्दिनी है। प्रतीक्षा मे है। भाग्य स्वतन्त्र हुआ, परन्तु स्वतन्त्रता की लहर सरयू तक न पहुँची। जिसकी रुनझुन मे वह झूमी थी जिसकी किलकारियो मे वह खिली थी, जिसके विकास मे वह विकसी थी, जिसके चरणो ने उसे यश दिया था वही उसके आराध्य 'राम' जन-जन के राम, हिन्दुस्तान मे हिन्दुओ के राम, जो अराध्य हैं, आजाद हिन्दुस्तान मे हिन्दुओ के हाथो उसके तट पर बन्दी हैं, सालो मे कैद है। इस कैद के साथ सरयू की रवानी कैद है, सरयू की जिन्दगी कैद है संस्कृति बन्दी है। कौन करेगा मुक्त उसे। कब करेगा मुक्त उसे? इसी की प्रतीक्षा है।

लो, आ गया वह दिन। कभी राम 'माँ' सीता को मुक्त कराने चले थे। राक्षस रावण से मुक्त कराकर लाये थे। आज 'माँ' सीता मिथिला से चली हैं। राम जानकी रथ ६ अक्टूबर रात्रि ९ बजे, जब सरयू के ऊपर से गुजर रहा था तो सरयू का जल हिलोरे ले चरण छूने को उमड़ रहा था। एक अपूर्व ज्वार था उत्साह का। स्वागत का दृश्य वही था जैसे राम फिर सीता को मिथिला से ब्याह कर लाये हों। सरयू ने एक बार फिर 'माँ' सीता को मिथिला से आते देखा।

अफवाहो के बादल बिन बरसे चले गये। धारा १४४ व्यर्थ हो गयी। गिरफ्तारियाँ होगी। गोली चलेगी। कितने मरेंगे। एक भय, एक आतंक फैला, फैलाया गया, पर फल न पाया। पैदल, साइकिल, मोटर साइकिल, ट्रैक्टर, बस, ट्रक दौड़े चले जा रहे थे अयोध्या की ओर गुंजाते एक ही स्वर 'जोर से बोलो जन्मभूमि

सभी का ताला खोलो ।' देखते-ही-देखते सरयू के सिमटते हुए तट लाखों अजुलियाँ एक साथ डूबी थीं सरयू-जल मे और होंठ मंत्र के उच्चारण मे खुले थे-लगता था होंठ नहीं, भाग्य के कपाट खुल रहे हों सूना आकाश मंत्रों के स्वर से आपूरित हो गया था और पड गया था कम तभी, तो वह निकला था निनाद 'ताला खोलो' ताला खोलो ।

रामायण मेला मैदान में आयोजित श्रीराम-जन्मभूमि मुक्ति सकल्प यज्ञ इतना शान्तिपूर्ण और मर्यादित था कि इससे पूर्व तनावों और राजनीतिक उद्देश्यो को लेकर उडाई गयी अफवाहों को चकनाचूर कर दिया । मंच पर लगभग सभी धर्माचार्य उपस्थित थे । जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य की अध्यक्षता मे संत-महंतो मे अवधेश जी (हरियाणा), अयोध्यादास जी (उडीसा), गोविन्द परमपथी (तमिलनाडु), नेजोमयानन्द जी (तमिलनाडु), जगदीश मुनि जी (पंजाब) नृत्य गोपल दास जी (अयोध्या), परषोत्तम तीर्थ जी (केरल), भूमानन्द जी (केरल) स्वामी वहलाव जी (तमिलनाडु), स्वामी सर्वदानन्द जी (काशी) महन्त अवैद्यनाथ जी (गोरखपुर) आदि ने राम जन्म-भूमि को मुक्त कराने की घोषणा की । किसी भी राजनैतिक दल का कोई सदस्य मंच पर न था । पर दिशा एक थी । तन लाखों थे पर मन एक था । आयोजकों ने जितने लोगो के शामिल होने की अपेक्षा की थी, जुलूस मे भीड उससे तीन गुना अधिक हो गयी थी । केसरिया रंग मे रंगी :ओउम' लिखित पताकाएँ हाथ मे लिये लोग ज्यो ही आगे बढते, नन्हे-नन्हे बच्चे फूल-मालाएँ लिये टूट पडते, फल मिष्ठान्न देते नहीं थकते, 'कुछ ले लो, थोडा ले लो' सभी कहते और देते जाते । २० मिनट से अधिक लग गया घंटाघर के चौक मे । चाय पीना है, कुल्हडों से पट गयी थी सडक, अटारियो से बरसती रंग-बिरंगी फूलो की पंखुडियाँ सतरंगी आभा बिखेर रही थी । फैजाबाद के इतिहास में लोगों मे उमंग और उत्साह का अनूठा माहौल देखने को मिला, कही "चढी अटारिन्ह देखहिं नारी" तो कही "लिए आरती मंगल थारी" "गावहि गीत मनोहर नाना" । कैसा आनन्द रस था । कैसा आनन्द था ।

न जाति का प्रश्न था, न वर्ण का, न पंथ की बात थी न मजहब की, न वर्ग की चिन्ता थी न दल की । सभी उमडे थे । धर्म के इस मोर्चे पर, सब एक थे । कांग्रेस (आई) के लोग थे, कम्युनिस्ट थे, लोक दल के थे । सनातनी थे । आर्य समाजी थे, । हिन्दू थे, मुसलमान थे । स्वागत के लिए होड थी । कोई भी क्यों न हो राम प्रनाम कीन्ह सब काहू" प्रनाम हो भी क्यों न । राम किसी सम्प्रदाय के नही राम किसी एक वर्ग के नहीं वह तो जन जन के राम हैं । राष्ट्र चैतन्य के साकार स्वरूप हैं और इसलिए "मुदित भये लहि लोचन लाहू" ।

केन्द्रीय रिजर्व पुलिस और पी० ए० सी० के जवान जगह-जगह पर भारी संख्या में तैनात थे और कुछ रथयात्रा के साथ चल रहे थे। यात्रा में किसी प्रकार की अशान्ति उत्पन्न नहीं हुई, अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई। सब एक रस में पगे, भक्ति के ज्वार में बहे जा रहे थे बोलते "ताला खोलो"। यह भारतीय संस्कृति का प्रवाह था। पाश्चात्य राजनीति में पगा आधुनिक उदण्डता भरा नहीं 'बन्धुओं' भगिनियो आज हम ईश्वर की भूमि में खड़े हैं। हमें लज्जा आनी चाहिए कि हमारे ईश्वर की जन्मभूमि खतरे में है। कह रहे थे महन्त अवैद्यनाथ, गोरखनाथ मंदिर के महन्त, श्रीराम जन्मभूमि मुक्त आन्दोलन के जन्मदाताओं में एक। बोले जा रहे थे वह जन्मभूमि पर ताला हम सब हिन्दुओं की जन्मजात दासता का प्रतीक है। ये बन्धन पुकार-पुकार कर हमारे रक्त को और वीरतापूर्ण परम्परा को लज्जित कर रहे हैं। आकाश नारों से गूंज उठा था—

भुज उठाइ पन कीन्ह

नारों के साथ जयघोष था "बोलो मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जय' पतित पावनी सीता मैया की "जय बजरंग बली की जय" और संकल्प के लिए उठे थे सभी के एक साथ लाखों हाथ। कभी राक्षसों के वध के लिए राम ने भुज उठाई प्रण' किया था, आज राम जन्मभूमि के मुक्ति लिए भक्तों ने भुज उठाकर संकल्प लिया।

साकेत

फैजाबाद ने राम-जानकी रथ यात्रा के स्वागत में १०१ स्वागत द्वार बनाये थे, सड़कों को सजाया था, फूलों को बिछाया था। स्वागत में खड़े थे सड़कों के दोनों ओर बाल वृद्ध-तरुण, प्रौढ़, नर-नारी और माताओं की गोद में किलकते-उछलते शिशु। छज्जों पर थी माताएँ, बहनें, झरोखों से झाँक रही थी वधुएँ, बरस रहे थे पुष्प झर-झर रही थी गंध से भरी जल की धार। शंख और घंटा ध्वनि के बीच सड़कों पर लाखों चरण उठ रहे थे, एक साथ। अपार हिन्दू जन-समुदाय उमड़ पड़ा था। चरण लाखों थे वेग नहीं-जो दूकानें लूटता, बहनों को छेड़ता, ट्रेन से भाइयों को फेंकता, आग लगाता बढ़ता चला जाता।

अयोध्या के इतिहास में १६४६ के बाद पहली बार इतना विशाल जन-जागरण देखने को मिला। युवकों की टोलियाँ जोर-जोर से जयकार लगा रही थी और वृद्धों तथा महिलाओं को राम-जन्मभूमि के ताले के आगे अपनी सुध न थी। बस्ती जनपद से आया एक ७० वर्षीय वृद्ध जिस मस्ती में हुंकार करता हाथ फैलाकर वीर मुद्रा में, परन्तु सुध-बुध भूला, श्री राम जानकी को प्रणाम करके सीधा तीर-सा दौड़ता, देखते ही बनता था।

सोहावल

फैजाबाद से चला हुआ रथ सोहावल में अपने पड़ाव पर रुका। पता भी न चला, और पड़ाव आ गया। न थकान, न चिन्ता। रात्रि में सबका भोजन एक और एक साथ। न छोटा, न बड़ा। न छूत, न अछूत। सब समान, सब एक। ईर्ष्या न द्वेष—

बैर न कर काहू सन कोई,
राम प्रताप विषमता खोई।

सब परिवार-जन लग रहे थे। कितनी आत्मीयता थी—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती।

यह सब राम का प्रभाव था किसी का कुछ भी तो न खुला था, खुला था तो वह स्वयं खो गया था भगवान राम की भक्ति में।

अपार जन-समूह उमड़ पड़ा था राम-जानकी रथ के दर्शन के लिए। मन्त्र-मुग्ध हो सुना था सभी ने सन्तों को। कैसा आश्चर्य था अंग्रेजी में बोल रहे थे स्वामी भूमानन्द जी और सब शान्त आनन्द ले रहे थे ग्रामवासी, मानो भाव भाषा के बन्धन तोड़ हृदयों में धंसते जा रहे थे भाषा व्यवधान हो न बनी बन्धन तोड़ हृदयों में धंसते जा रहे थे, भाषा व्यवधान ही न बनी। धन्य है राम की महिमा। प्रातः सब विदाई देने दौड़े थे आरती की थी और यात्रा के साथ लिपटे चले आ रहे थे। लौटने मन ही न हो रहा था। जो कुछ रुकते, महिलाएं थमतीं, एकटक दृष्टि थी उनकी रथ की ओर, गये वह गये, राम वह गये। जब तक दृष्टि से रथ ओझल न हो जाता लोग लौटते न थे। कुछ तो खड़े ही रह जाते, मानो खो गये हों—रथ चला गया पर वे घर न गये।

सोहावल और भेलसर के बीच जगह-जगह सड़क पर स्वागत-द्वार बने थे। जोसड़क के दोनों ओर गाँव-गाँव से आकर हजारों लोग खड़े थे। खाली हाथ न थे। बना लेकर स्वागत के लिए दौड़े थे, केले, बिस्कुट, बताशा, लड्डू क्या-क्या न देते और विह्वल हो मिलते। भोग लगाने के लिए होड़-सी लगती। परसाद लेने के लिए बच्चे से लेकर बुड्ढे तक लग जाते।

उत्तम प्रशासन की व्यवस्था

डी० एम० एस० पी० और कमिश्नर की कारें व्यवस्था में दौड़ रही हैं। व्यवस्था स्वयं बजरंग दल के कार्यकर्ता सम्हाले हैं। विश्व हिन्दू परिषद के अधिकारी साथ चल रहे हैं। राम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ के महामन्त्री श्री दाऊ दयाल खन्ना, विश्व हिन्दू परिषद के संयुक्त महामन्त्री श्री अशोक जी सिंहल साथ रहते, निरीक्षण करते, उत्साह बढ़ाते चलते हैं। कोई अव्यवस्था का प्रश्न ही नहीं। फिर



भी पुलिस आगे-पीछे चल रही है और भक्तों में मिलकर भक्ति रस में डूब रही है—

सुनत दौर ग्रामी नर नारी,
भये निज निज काज बिसारी ॥

जो सुनता, जैसा भी होता दौड़ चला आता। बच्चे दौड़े आ रहे हैं, वधुएँ लाज भुलाये भागी आ रही हैं, माताएँ गोद में शिशु लिये किस तेजी से बढ़ती आ रही हैं। वृद्ध पीछे नहीं हैं, वे भी दौड़ रहे हैं। सभी ओर से आने वालों का ताँता लगा है जो न टूटेगा। लगता है राम-जानकी के भक्तों के जन-समुद्र में ये छोटी-मोटी सरिताएँ वेग से मिलने दौड़ी चली आ रही हैं। ग्राम के निकट पहुँचते हैं, तो लोग सीधे तीर-से भागे चले आते हैं—

ग्राम निकट जब निकसहिं जाईं
देखहिं दरस नारि नर धाई ॥

भेलसर

यात्रा भेलसर पहुँच गयी। वही आनन्द, वही मस्ती, वही उमंग, वही धुन। सहस्रों ने स्वागत किया, प्रवचन सुना और दूसरे दिन विदाई दी। चल दिये मिल्टरिया की ओर......। यात्रा बढ़ती और भागी बढ़ते जाते। नारों का 'स्वर' तेज होता, बजरंग दल के कार्यकर्ता और भी उत्साह में उछलते, गाते, झूमते, नाचते बढ़ते। प्रकृति मेघों का छाता लिये साथ-साथ भक्तों के चलती। न धूप, न थकान, न वर्षा। महिलाएँ, बच्चे, वृद्ध सभी पैदल चले आ रहे हैं। बसों पर बैठने का नाम नहीं लेते। साथ छोड़ कर बैठने में आनन्द कहाँ?

साधु-सन्त

रथ के आगे-आगे चल रहे हैं साधु-सन्त। कोई शंख बजा रहा है, कोई घण्टा। कहीं चौपाइयों की गूँज है तो कहीं नारों की। दौड़ता हुआ तरुण सन्यासी 'स्वामी अखण्डानन्द' कभी सीधा, उल्टा, खड़ाऊओं पर घूम रहा है, ललकार रहा है, बचा रहा है—देखते रह जाते हैं लोग। कितनी गति है उसमें, बिजली-सी फुर्ती। कितना आकर्षण है, जादू-सी पकड़।

सब अपने को भूले थे, बस रह गये थे रामभक्त पुलिस के सिपाही हों, या पी० ए० सी० के जवान अब एक स्वर से बोल रहे थे 'ताला खोलो' 'ताला खोलो' क्या आनन्द था। लगता था धरती पर स्वर्ग उतर आया हो। क्या आनन्द था। लगता था धरती पर स्वर्ग उतर आया हो। अन्नपूर्णा स्वतः स्वागत में आ गयी हो। तभी तो यात्री करता न, न, न और खिलाने वाले कहीं फल, कहीं मिष्ठान्न, कहीं रबड़ी, कहीं पूड़ी लिये जुटे हैं। भूलेगा नहीं वह। बनाकर

लाया था रबड़ी। कह रहा था—'मेरा कोई नहीं, है अपने हाथों रबड़ी बनाकर लाया हूँ। इसे तो खा लो, थोड़ा ले लो' और कार्यकर्त्ता कह रहे थे 'पेट मे जगह नहीं बाबा।' पर हठ तो हठ था। थोड़ा-थोड़ा सबको खिला गया। सड़क पर छिपे खड़े थे लाई, चना, बताशा, पूड़ी, लड्डू, नहीं कुछ तो लेना ही होगा। लोग लेने और बाँटने लगते थे—

जिन पावा राखा तिन नहूँ॥

मिटरिया

रात्रि विश्राम मिटरिया में हुआ और दूसरे दिन चल दिये सफदरगंज। राम-जानकी के रथ स्वागतार्थ खड़े ग्रामीणों के कन्धों पर लटकते बच्चे और उनके तोतले बोल—"छिया बल लामचन्द की जै" भीड़ में खड़े लोगों द्वारा जय-जय-कार, तथा घूँघट की ओट में आँखें नचाकर निरखती राम के रूप को ग्राम वधुओं की छवि को देखकर लगता था एक बार फिर राम की यात्रा साकार हो उठी हो। सवेरे से लोग सड़कों पर जम गये। जब स्वयं राम जानकी चले होंगे तो कैसा होगा? राम लोगों से इतना स्नेह करते थे कि लोग उनके आकर्षण मे खिंचे चले आते थे। पर इस यात्रा को देखने से लगा कि लोगों मे इतना अनुराग है कि वे राम के रथ के आगे-पीछे उसे खीचते हुए चल रहे हैं। पहले राम अनुरागी थे, अब लोग अनुरागी हैं। यह बड़ा विलक्षण, परन्तु मांगलिक लक्षण है। लोग पूछते थे कि एक बार राम ने यात्रा की थी तो लौटने पर सिंहासन पर बैठे थे इस बार लौटेंगे तो क्या होगा?

चितवत चले जाहिं संग लागे

राम का सुन्दर रूप निरख, ग्रामवासी 'चितवत चले जाँहि संग लागे'। चले जा रहे हैं कैसा लौटना। कुछ पूँछ रहे हैं रथ कितनी दूर गया है, कहाँ तक पहुँचा होगा। आपस मे 'मुनिसुरूप पूछहिं अकुलाई, अब लगि गये कहाँ लगि भाई' देखने की कैसी ललक है मन मे।

छुआछूत लवलेश नहीं

सफदरगंज मंडी मे सब ठहर गये है। गाँव-गाँव से आये लोग भोजन खिलाने की होड़ मे गये हैं। सब जा रहे हैं। सभी का खा रहे हैं—

"जाति पाँति पूछे नहि कोई, हरि का भजे सो हरि का होई।"

परन्तु वह कौन झिझक रहा है खिलाने में? पूछ रहा हूँ, भाई क्या बात है? उत्तर देता है, 'हरिजन हूँ' पूड़ी बनाकर लाया हूँ। कहता हूँ उसे, भाई! सब हिन्दू हैं सब एक हैं। 'लाओ' लाओ और उसकी पूड़ी सबको बाँट देता हूँ। वह गद्गद हो जाता है, बाहर आये लोग भी विश्राम करते है, प्रवचन सुनते हैं।

विदाई लेकर प्रातः ८ बजे चल दिये हैं, रथ-यात्री, बाराबंकी। वही जय-कार, वही ध्वनि, दर्शनार्थियों की उमड़ती भीड़। भक्तों का उत्साह। स्वागत-द्वार, पुष्प और मालाएँ। क्या नहीं उड़ेल देना चाहते हैं, इस क्षेत्र के वासी। द्वार भगवान् राम जो आये हैं। लो, ये तो दूध पिलाने में जुट गये हैं। पीना ही होगा। शुद्ध दूध। सभी को दूध। जितना पियो उतना दूध। देखकर कौन कह सकता है कि देश में दूध की नदियाँ नहीं बहतीं। यात्रियों का काफिला बढ़ता है, श्रद्धालु साथ जुटते हैं, साइ-किलों से, ट्रैक्टरों से, भीड़ बढ़ती चली जाती है। कौन है जो घर में रह जाना चाहता है। चारपाई पर उठाये लिये आ रहे हैं कैंसर के रोगी को। वह दर्शन के लिए व्यग्र हो रहा है। दर्शन कर लेता है फिर भी जाना नहीं चाहता—कहता है रुको, रुको, अभी नहीं, अभी नहीं।

मीलों फैले हैं रथ-यात्री। चला नहीं जाता पर चले आ रहे हैं। वह देखो बुड्ढे-से धीरे-धीरे दो तरुणों के साथ बढ़ते आ रहे हैं। अरे, इनके पैरों में तो मोटी-मोटी पट्टियाँ बँधी हैं, छाले पड़ गये हैं, पर छाले भी बेचारे किसके पाले पड़े हैं। भला कुछ बिगाड़ पायेंगे, भला रोक पायेंगे। यह हैं झाँसी के अवकाशप्राप्त जज साहब। मानने वाले नहीं। चलेंगे। बस पर बैठेंगे नहीं साथ में दो कार्यकर्ता लगा लिये हैं।

पुरुष ही नहीं महिलाएँ भी जिद्दी हैं। पैदल ही बढ़ेंगी। कहीं कानपुर का झुण्ड है तथा कहीं झाँसी का जत्था। कहीं बनारस की बहनें हैं तो कहीं महोबा की। चल रही है। शान्त? नहीं, जयकार लगाती हुई। वह देखो सड़क पर कोई लुढ़क गयी है। 'ओ३म्' की झण्डी हाथ में फहरा रही है। चलते-चलते थक गयी-चला नहीं गया, लुढ़क गयी। निकट जाते हैं, प्रार्थना करते हैं कि बस में बैठ लो। नहीं, नहीं। बैठूंगी नहीं। दो कार्यकर्ता साथ कर देते हैं और बहन फिर चलने लगती है।

बाराबंकी

बाराबंकी आ गया है। एक-एक पग बढ़ना कठिन है, इस जन-समुद्र में। इस स्वागत में, चलना दूभर है। सजे हुए स्वागत-द्वार पुष्प बरसाती दोनों ओर से भीड़, छतों से बरसते फूल, सुगन्धित जल की गिरती बौछारें, चन्दन के लगते टीके, हाथ-हाथ में दिये जाते फल, मिष्ठान्न और रेवड़ी के पैकेट—कैसे निकला जा सकता है। यह शोभा न कभी देखी, न सुनी।

सभी स्थल पर लाखों का समूह। हर गली, हर सड़क भक्तों से भरी-उम-ड़ती चली आ रही है, मिलने जन-सागर में।

अब भी जिसका खून न खौला, खून नहीं वह पानी है।
मातृ-भूमि के काम न आये, वह बेकार जवानी है।।

जोश में जवान बोले जा रहे हैं । मंच से महन्त अवेद्यनाथजी व श्री अशोक जी सिंहल के ओजस्वी भावपूर्ण भाषण जनमानस को आन्दोलित कर रहे हैं। एक वेग है जो उफन कर लखनऊ की सड़कों पर छा जाना चाहता है । चाहता है कहना मुख्यमंत्री से 'नारायण की दी हुई काया नारायण के काम लगे, सत्ता की माया में न फँसे, मंदिर का द्वार खुले, देश का भाग खुले ।'

चिनहट

रात्रि विश्राम के पश्चात् रथ–यात्रा मुड़ी चिनहट की ओर । भावभीनी विदाई के साथ हजारों श्रद्धालुओं को अपने साथ समेटती, यह विशाल यात्रा बढ़ चली अपने गन्तव्य की ओर । रथ के आगे मन्त्रोच्चारण तथा शंखनाद के साथ मार्ग प्रशस्त करते चले जा रहे हैं ये तेजस्वी काया वाले धर्मगुरु और सन्त । प्रारम्भ से ही सतर्क यात्रा के साथ-साथ व्यवस्था सम्हालने दौड़ते रहे हैं कार से श्री भावे जी, कभी आगे, कभी पीछे मोटर साइकिल पर सावधानी से, यात्रा के साथ चल रहे हैं बजरंग दल के संयोजक श्री विनयजी कटियार । पद-यात्रियों के साथ-ही-साथ अयोध्या से पैदल चलते चले आ रहे हैं, सुख-सुविधा की चिन्ता लिये कार्यकर्ताओं की, श्री निहाल जी । सुध-बुध भूल बैठे हैं ये भक्त । बस एक ही लगन है । एक ही रटन है, एक ही मन है 'ताला खोलो', 'ताला खोलो' वह देखो गेरुआ वस्त्रधारी तरुण लड़खड़ा रहा है । फिर भी चिन्ता नहीं है बढ़ता जा रहा है ।

चिनहट आ गया है । लखनऊ का जनपद । जिलाधीश श्री रमेश नारायण जी त्रिवेदी दिखाई दे रहे हैं । एम० पी० महोदय व्यवस्था देख रहे हैं । स्वागत में क्षेत्र की जनता उमड़ रही है । 'हर हर महादेव', 'जय बजरंग बली' गूँजता कहीं बच्चों का, कहीं जवानों का, कहीं वृद्धों का, समूह चलता चला आ रहा है । सभा–स्थल पर सब पहुँच गये हैं । महन्त अवेद्यनाथजी, स्वामी भूमानन्दजी आदि सन्तों का प्रवचन हो रहा है । थका और मस्त वह तरुण सन्यासी अखण्डानन्द बेहोश हो गया । इतना दौड़ा था, खड़ाऊँ पहने उलटा–सीधा पूरी यात्रा के साथ, इतना बोलो था यात्रा पर, अब जैसे चुक गया हो । तत्काल लखनऊ भेजा गया है । सब ठीक होगा ।

14 अक्टूबर प्रातःकाल लक्ष्मणपुरी में प्रवेश कर लिया है । चिनहट से लेकर लक्ष्मणपुरी तक भक्तों का ताँता लगा है । सड़क भरी चल रही है । कोई स्थल रिक्त नहीं । कितनी साइकिलें हैं कितनी मोटर साइकिलें हैं, कितने ट्रैक्टर हैं, कितनी जीपें हैं, कारें हैं गिनो मत दौड़ने दो । 5 घंटे लग गये हैं चलते–चलते चिनहट से लक्ष्मणपुरी तक । कल्पना कीजिये कितनी भीड़ होगी ।

मुसलमानों ने भी स्वागत-द्वार सजाये

लक्ष्मणपुरी में 300 स्वागत-द्वार सजाये गये हैं। मुसलमानों ने भी स्वागत-द्वार बनाये हैं। स्वागत किया है। उन देशद्रोहियों को मुँहतोड़ जवाब दिया जिन्होंने अफवाहें फैलाई थी कि दंगा होगा, हिंसा फैलेगी, कर्फ्यू लगेगा। उन्हें पता नहीं ये राम के भक्त हैं, राक्षस भक्त नहीं। सुन्दर व्यवस्था की गयी है। घर-घर से लाखों पैकेट भोजन के आ चुके हैं। बसों के ठहरने की व्यवस्था रेजीडेन्सी, उच्च न्यायालय, स्टेडियम, विश्वविद्यालय आदि के निकट की गयी है। भव्य और योग्य व्यवस्था। शासन भी दंग रह गया है देखकर जिसे।

रामभक्तों की अपार भीड़ उमड़ी तो नगर की सदियों की तृषित सड़कों को लगा कि एक आह्लादकारी उल्लेखक सर्वव्यापी बाढ़ आ गयी है। इन्दिरा नगर से निशातगंज, हजरतगंज से होकर, बेगम हजरत महल पार्क की ओर जाने वाली सड़कें इस तृषा तृप्ति की खुशी से खिलखिला रही थी। राम-जानकी रथ आगे-आगे जुलूस में एक रथ चल रहा था जिस पर श्रीराम की वेशभूषा में सजा एक बालक दोनों हाथों में हथकड़ियाँ पहने, श्रीराम के बन्दी होने का भाव व्यक्त कर रहा था। एक व्यक्ति हनुमान् की वेश-भूषा में गदा लिये चल रहा था। पूरा लखनऊ स्वागत में उमड़ पड़ा था।

नगर के सभी मोहल्ले इस अभूतपूर्व दृश्य को देखने दौड़ पड़े थे। सड़क का चप्पा-चप्पा भरा था। रथ-यात्रियों पर बरसाई गयी फूल की पखुड़ियाँ हवा में तैर रही थी। 'ॐ' लिखित केसरिया रंग में रँगी हजारों पताकाएँ फहरा रही थी। ऐश्वर्य के गुमान में डूबे हुए हजरतगंज ने देखा कि चाँदी की कुर्सियों पर डोलने वाले बड़े-बड़े मठाधीश श्रीराम के नाम पर खड़ाऊँ खटखटाते और कुछ नंगे पाँव चले आ रहे हैं। लगता था, जहाँ राम का आगमन होता है, वहाँ सब आ जाते हैं। भेद मिट जाता है। भोले ग्रामीण श्रद्धालु यात्रियों की पद-रज पुड़ियों में बाँध कर रखते। शबरी गाँव में तो एक 95 वर्षीय वृद्ध यात्रा को देखकर इतना भावुक हो गया कि चिल्लाते हुए नाचने लगा।

उर्मिला वाटिका

बेगम हजरत महल पार्क में, जिसे सन्तों ने उर्मिला वाटिका कहा, सभा अनोखी और अभूतपूर्व थी। लाखों की संख्या में श्रद्धालु स्त्री, पुरुष, बच्चे हर मार्ग से नदियों की तरह उमड़ते हुए सभा के जन-समुद्र में विलीन होने आ रहे थे। सभा होने तक लक्ष्मण पार्क मकबरा पार्क, हनुमान् सेतु तक खचाखच भरे थे। वृक्षों

तथा छतों पर लोग बैठे थे। एक कोने में बन्दर जमा हो गये थे, जिन्हें सब हनुमान् जी की सेना बता रहे थे। कई बन्दरों के गले में लाल फीते थे। कई आदम कद मोमबत्तियाँ जलाई गयी थीं।

श्री राम-जानकी रथ के आगमन पर, नगर से प्रकाशित 'अहदे नौ' उर्दू अखबार ने हिन्दी में अपना सम्पादकीय निकाला था। लंका काण्ड का उद्धरण देते हुए उसने लिखा कि जिस विशाल समुदाय के साथ ऐसा प्रतिभासम्पन्न रहा हो उसे परास्त करने वाला विश्व में पैदा ही नहीं हुआ।

वीरवर लक्ष्मण की नगरी

वीरवर लक्ष्मण जी की नगरी में, उमड़ते हुए जन-समुद्र ने एक स्वर से "जन्मभूमि मुक्त करो" का आह्वान किया। जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री शिव रामाचार्य काशी पीठ की अध्यक्षता में सभा हुई। श्री अशोक सिंहल ने मुख्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसका समर्थन परमहंस श्री रामचन्द्र दास ने किया। समिति के मंत्री श्री दाऊदयाल जी खन्ना ने पवित्र देवस्थानों पर बनी मस्जिदें मुगल शासकों की निष्ठुरता, निर्दयता तथा असहिष्णुता और हिन्दू धर्म और समाज के ऊपर क्रूर आक्रमण के रूप में बतायीं। निवर्तमान पुलिस महानिदेशक श्री श्रीशचन्द्र दीक्षित ने स्वागताध्यक्ष के रूप में सभी का स्वागत किया। स्वामी भूमानन्द जी ने मुसलमानों से माँग की कि वे हिन्दुओं को तीर्थस्थान सौंप कर सौहार्द्र दिखावें।

इतनी अनुशासित, इतनी विशाल, इतनी प्रभावी भीड़ लखनऊ ने कभी नहीं देखी थी। सरयू उमड़ कर गोमती के गले आ लगी थी। कैसा मिलन था—काश सत्ता इसे समझ पाती, नेता इसे समझ पाते........।

राष्ट्र चैतन्य—राम

राजनीति की रेखाएँ राष्ट्र नही बना देती, भौतिक सीमाएँ राष्ट्र नही खड़ा करतीं, राष्ट्र तो स्वयं अस्तित्व ले धरा पर उतरते है। करोड़ो जिसके कर हैं, करोड़ों जिसके चरण हैं, करोड़ो जिसके नेत्र हैं, परन्तु कृति एक है, गति एक है, दृष्टि एक है। कण-कण मे एक ही स्पन्दन है। एक ही जीवन है।

राजनीति की रेखाएँ राष्ट्र नही बना देती, भौतिक सीमाएँ राष्ट्र नहीं खड़ा करती, राष्ट्र तो स्वयं अस्तित्व ले धरा पर उतरते हैं। उनकी अपनी काया है, अपना चैतन्य है, अपनी प्रकृति है और अपना है जीवन। रेखाएँ तो, राजनीति की, राज्य बनाती हैं। आज बना, कल टूटा। सीमाएँ तो, पर्वतों की, सागरों की, देश बनाती हैं। बसा, बसा, न बसा। राष्ट्र जीवन्त स्वरूप है। चैतन्य शक्ति है। व्यक्ति विकास की पवित्र और पूर्ण इकाई है। एक विराट् पुरुष। करोड़ों जिसके कर हैं, करोड़ो जिसके चरण हैं, करोड़ो जिसके नेत्र हैं, परन्तु कृति एक है, गति एक है, दृष्टि एक है। कण-कण मे एक ही स्पन्दन है। एक ही जीवन है।

'चैतन्य' रहा, तो राष्ट्र है। 'चैतन्य' गया तो राष्ट्र गया। यह धरती, ये पर्वत, ये नदियाँ, ये पठार और मैदान, उसे रोक नहीं पाते। यह धन, यह दौलत, यह राज और यह शासन उसे थाम नहीं पाते। व्यक्ति रहते है, परन्तु राष्ट्र चला जाता है। मिस्र को कौन मिटने से रोक सका? रोम को जाने से कौन रोक सका? धरती है परन्तु वह नहीं जिसे मिस्र कहें, रोम कहें।

'चैतन्य' जाते ही 'स्व' अभिव्यक्ति चली जाती है। इसीलिए तो 'चैतन्य' की रक्षा चाहिए। धरती छिन जाय तो पौरुष वापस ला सकता है। सम्पदा चली जाय, तो कर्म श्रम से झोली भर सकता है। परन्तु 'चैतन्य' चला गया तो न पौरुष ला सकता है, न कर्म वापस कर सकता है और न धरती उसे ला सकती है। यहूदियों की धरती छिनी तो यहूदियों के पौरुष ने इजरायल बसा दिया। जापान की सम्पदा नष्ट हुई, जर्मनी की सम्पदा गयी, तो जापान ने पुनः अपने पसीने से जापान खड़ा कर दिया, जर्मनी ने अपने श्रम से जर्मनी बना दिया, परन्तु मिस्र न बन सका रोम न खड़ा हो सका। धरती और धन पर नहीं, जब चैतन्य पर आक्रमण होता है, तो राष्ट्र डगमगाता है। भारत ने ये आक्रमण झेले हैं। अपनी शक्ति

से आक्रमण ध्वस्त किये हैं। सत्ता गयी है 'स्वत्व' नहीं गया। सत्ता हारी है, समाज नहीं हारा। अकबर और औरंगजेब का शासन। मठों पर, मन्दिरों पर, आदर्शों पर, मूल्यों पर, पद्धतियों पर, व्यवस्थाओं पर, सर्वत्र प्रहार, सभी पर प्रहार। परन्तु वाह रे समाज, चैतन्य की ज्योति ले आगे बढ़ा, मिटाये न मिटा। तुलसी राष्ट्र का चैतन्य जगा उठा, गुरु गोविन्दसिंह राम राम गा उठा, शिवा पताका ले निकला तो राणा अपनी गाथा ने पत्थरों को भी सिहरा उठा। चैतन्य की लहर गाँव-गाँव गली-गली दौड़ गयी। अंग्रेजों का शासन। पुनः आक्रमण। भीषण आक्रमण, चैतन्य पर। भाषा पर, भूषा पर, चिन्तन पर, आचरण पर, मूल्य पर, आदर्श पर सुनियोजित विदेशी योग का आक्रमण। परन्तु प्रतिकार आक्रमण से भी कहीं अधिक सशक्त। स्वदेशी का मन्त्र। गांधी जी का मन्त्र बना 'रघुपति राघव राजा राम'। गांधी जी का स्वप्न बना 'राम-राज्य'। राष्ट्र चैतन्य जाग उठा। जिसे तुलसी ने जगाया, गुरु गोविन्दसिंह ने जगाया, उसे गांधी जी भी जगा उठे। यही तो है राष्ट्र चैतन्य का सगुण स्वरूप। राष्ट्र की पूर्ण और पवित्र अभिव्यक्ति। राष्ट्र वैशिष्ट्य का उच्चतम शिखर।

राष्ट्र-भारत एक भव्य मन्दिर है। विश्व का सम्पूर्ण वैशिष्ट्य समेटे, उसका प्रतिनिधित्व करती हुई, पूर्ण और पवित्र इकाई भारत की धरती, धरती पर अनादि काल से पुत्रवत् रहता चला आया समाज, धरती और समाज के सतत संघात से विकसित उसकी संस्कृति और धरती, धरती पर समाज तथा उसकी संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन तथा पोषण के लिए, व्यवस्था, राष्ट्र मन्दिर की नींव है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की दृढ़ प्राचीरें हैं। जिसके बल पर निर्भर है व्यक्ति और समाज की धारणा, उनका पोषण, उनका विकास और उनकी उपलब्धि। ज्ञान, कर्म, शील और समन्वय के सुदृढ़ खम्भों पर यह मन्दिर टिका है। गायत्री, गीता, गौ और गंगा, तभी तो यहाँ पूज्य हैं। प्राचीरों और खम्भों पर झूल-सा व्यक्ति का विकास छाया है। उसका शरीर, उसका मस्तिष्क, उसका हृदय और उसकी आत्मा, चारों सीमाएँ हैं। इस विकास की छत पर, सतत साधना के दण्ड पर सधा है लहराता परम सुख का ध्वज। विद्यमान है मन्दिर के अन्दर विराट् का देवता और स्थापित है उसमें चैतन्य, राष्ट्र का। यह चैतन्य राष्ट्र के प्रकाश को विश्व भर में प्रकीर्ण करता है। राष्ट्र कहलाता है भारत। भ = प्रकाश, आ = पूर्ण, र = देना, फैलाना, विकीर्ण करना, त = तट, दूर-दूर तक। विश्व को पूर्ण प्रकाश देने वाला, भारत।

भारत : एक भव्य मन्दिर

राष्ट्र चैतन्य का सशक्त और समग्र प्रकटन हुआ है जिनके आचरण में, वह है—राम। इसकी धरती उनके लिए माँ है, वह स्वर्ग से भी प्यारी है। उसकी

अखण्डता के लिए, कैलाश से लेकर कन्याकुमारी तक, उनके चरण चले हैं। उनके हाथों अखण्डता आयी है। देश के बिखरे हुए जन को, एकता के सूत्र में उन्होंने बाँधा है। छोटों को प्यार दिया है, बड़ों को श्रद्धा दी है और आराध्य की भक्ति की है। प्यार, श्रद्धा और भक्ति के सम्बन्धों में समाज को बाँधा है। उसका मन एक किया है, उसका जीवन एक किया है, उसकी दिशा एक की है। अपने चिन्तन में, अपने शब्दों में, अपने आचरण से, मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं को, पक्षियों को, पाषाणों को भी सुसंस्कृत किया है। व्यक्ति, समाज और राज्य की व्यवस्था दी है। धर्माधारित व्यवस्था। स्वयं संचालित व्यवस्था।

धर्म का तो वह साक्षात् स्वरूप हैं। मनुष्यत्व का आदर्श ले खड़े हैं। मर्यादा की वह सीमा हैं। व्यक्ति धर्म, समाज धर्म और राष्ट्र धर्म तीनों ही उनके आचरण में हिमाद्रि के शिखर-से शोभित हैं। अर्थ को अनर्थ की गन्दी गली से निकाल, सुख और शान्ति के समर्थ पथ पर वह लाये हैं। सोने की लंका जली है, सोने की अयोध्या नहीं। अयोध्या जहाँ युद्ध नहीं, अवध जहाँ वध नहीं। शान्ति और सुख है। कामनाओं की सीढ़ी पर चढ़ परम वैभव और परम सुख तक पहुँचना, उनके समाज का रूप है। मोक्ष की उपलब्धि उनके पथ पर है। ज्ञान के वह सूर्य हैं, शील के वह सागर हैं, कर्म के वह शिखर हैं और समन्वय की पावन सरिता हैं। किसको वह बोध नहीं देते, किसको वह गले नहीं लगाते, किस कर्तव्य के लिए वह नहीं दौड़ते और किसको मिलाने के लिए वह नहीं मचलते।

माँ भारत उनकी काया में व्यक्त है। पुत्र में माँ का ही स्वरूप है। यहाँ की धरती, यहाँ का जल, यहाँ का आकाश, यहाँ का तेज और यहाँ का पवन उनके अंग-अंग में बसा है। हिमाद्रि और सह्याद्रि, गंगा और गोदावरी, कैलाश और कन्याकुमारी, उनके जीवन में बैठे हैं। अतीत की गहराई उनके चरणों ने मापी है, भविष्य की ऊँचाई उनके हाथों ने छूली है और वर्तमान उनके कर्म से निखरा है। काल और क्षेत्र-राष्ट्र के—दोनों ही उनके जीवन में बोलते हैं। उनकी साधना का पथ परम सुख का पथ है।

प्रत्येक कामना करता है, पुत्र चाहिये राम-सा। प्रत्येक चाहता है, भाई चाहिये राम-सा। प्रत्येक इच्छा करता है, मित्र चाहिये राम-सा। प्रत्येक प्रार्थना करता है, राजा चाहिये राम-सा। शत्रु भी चाहता है कि शत्रु मिले राम-सा। जिनके आचरण में कल्याण-ही-कल्याण है। यह वैशिष्ट्य राम का, राष्ट्र का वैशिष्ट्य है। माँ का गुण, पुत्र में पला है। हिमाद्रि ने उच्चता दी है, सागर ने विशालता दी है, सम्पन्नता ने उदारता दी है, विभिन्नता ने समन्वय की दिशा दी है, समग्रता ने व्यक्तित्व को पूर्णता दी है, मेघ ने करुणा, गौ ने शील, तो गंगा ने कर्म को पावन

डगर दी है। एक-एक गुण, इस धरती ने दिया है। राम जिसे ले, भारत के चैतन्य के सगुण स्वरूप बने हैं। वह राष्ट्र-पुरुष हैं, राष्ट्र-देवता हैं, राष्ट्र-प्राण हैं।

आज, हम देश की अखण्डता के लिए उन्ही का आराधन करें। राष्ट्र की एकता के लिए उन्ही के पथ का अनुसरण करें। सुख, शान्ति और व्यवस्था के लिए उन्हीं के चरण-चिह्नो पर चलें। लोकतन्त्र के लिए लोक-आराध्य राम का आदर्श स्वीकारें। समाजवाद के लिए, समाजहित पूर्ण समर्पित, राम का जीवन देखें। भारत के लिए लिंकन और लेनिन का पथ नहीं, राम का ही पथ है भारत के स्वभाव का पथ है। जिसे छोडते ही ध्वंस है और जिस पर चलते ही निर्माण। चलें हम निर्माण करें। अपनी धरती पर, अपने आकाश तले, अपने पथ पर चलें। अपना चैतन्य जाग्रत करें। गाँव-गाँव, नगर-नगर गूँजने लगे—

चन्दन है इस देश की माटी,
तपोभूमि हर ग्राम है।
हर बाला देवी की प्रतिमा,
बच्चा बच्चा राम है।।



पहाड़ो और मैदानो से देश नही बनता, देश कल और कारखानो से नहीं बनता, देश बनता है शहीदो के रक्त से, भाइयों के शीश से, बहनो के सिन्दूर से। शहीदो ने अपने खून की खाद से, देश को, आजादी की फसल दी है। इसकी रक्षा भी हमें अपना खून देकर करना है।

सृजन के धरातल पर—

'आनन्दमयी अभिव्यक्ति की धारा'

धरती पर आते ही 'रुदन' शिशु की पहली प्रतिक्रिया है और माँ की गोद में स्तन्यपान उसकी प्रथम सुखानुभूति। रोना और मुस्कराना ही उसकी अभिव्यक्तियाँ है। सुख के प्रति आकर्षण और दुःख के प्रति विकर्षण उसका स्वभाव है। सुखद अनुभूति देने वाले साधनों को प्राप्त कराने की उसमें कामना है। दुःख देने वाली वस्तुओं की छाया भी उसे प्रिय नहीं।

प्रकृति के पालने में ज्ञान के चरण चलते हैं। बोध का विकास होता है। भाव मस्तिष्क की चहारदीवारी में बन्दी नही रहते। अभिव्यक्ति चाहते हैं। शिशु माँ को देख गोद के लिए मचल उठता है मित्र मित्र को देख स्वागत के लिए दौड पड़ता है, शत्रु शत्रु को देख क्रोध से उबल पड़ता है। भावना ज्ञान को अपेक्षित दिशा में रंग, क्रिया के लिए प्रेरित करती है।

आत्माभिव्यक्ति मानव प्रकृति है। यह उसकी प्रवृत्ति है। अपने को प्रकाशित किये बिना वह नही रह सकता। हर्ष में हँसने और विषाद में रोने से कौन रोकेगा उसे ? यह उसकी अपनी पूँजी है, जिसे वह समाज के सामने बिखेर देना चाहता है। वह भी, एक क्षण के लिए नहीं, सदैव-सदैव के लिए। इसलिए अभिव्यक्ति को स्थायित्व चाहिये और स्थायित्व प्रदान करने की शक्ति है 'शब्द' में। जिसका, वाणी, सदैव से विधान करती आयी है।

'सत्य' साहित्य का प्राण है। साहित्यकार की अनुभूति ही उसकी अभिव्यक्ति का आधार है। जिसके प्रति वह सतत सचेत है। अनुभूति का ज्ञापन ही तो उसका धर्म है। जिसे वह छोड नहीं सकता, प्रलोभन जिसे मोड़ नहीं सकता, भय जिसे तोड नहीं सकता। स्वान्तः सुखाय, उमड़ती हुई, वह तो वेगवती आनन्द की पावन धारा है, जो प्रलोभन और आतंक के अवरोधों से और भी अधिक गतिवान हो, स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल को लाँघ लोक सामान्य भावभूमि पर, जा ठहरती है।

प्रभाव और विकृति के आवरण, समाज में व्याप्त 'सत्य' को कवि की आँखों से ओझल नहीं कर सकते। व्यक्ति की समर्थ दृष्टि अपने समाज के स्वभाव को

पकड़ लेती है। भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे, उनकी झलक हमें उपनिषद् साहित्य में मिलती है। प्रत्येक समाज के साहित्य का अपना व्यक्तित्व होता है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों की उलट-फेर और विचारों के संघर्ष के कारण, वह धूमिल हो सकता है, दब सकता है किन्तु समय पाकर फिर प्रकाशित होता है, उभरता है।

मानव और समाज के सत्य की अभिव्यक्ति संरक्षणीय होती है। वह समाज की संजीवनी शक्ति होती है। भविष्य की दिशा होती है, वर्तमान का आधार होती है और अतीत की पावन धरोहर बनती है। इसमें समाज का और समाज के घटक व्यक्ति का हित निहित रहता है। सतत आनन्द का स्रोत इसमें छिपा है। साहित्यकार इस अभिव्यक्ति को अलंकारों से सजाते-सँवारते आये हैं, इसे मनोहरता प्रदान करते आये हैं। जहाँ हित और मनोहरता दोनों आ जायें वहीं सत्साहित्य की सृष्टि हो जाती है— हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' (किरातार्जुनीय)। साहित्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है।

कवि सत्य की धारा को, सौन्दर्य की डगर से, समाज हित के लिए, हृदय की मुक्तावस्था तक पहुँचाता है जहाँ अवगाहन कर पाठक आनन्द-रस में डूब जाता है। इसीलिए तो काव्य समाज जीवन धारा की आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।

साहित्यकार शून्य में वास नहीं करता। समाज की गोद से पलता है। सुख की लहरियों पर तिरता है, दुःख के थपेड़ों को सहता है। समाज के अन्य व्यक्तियों की भाँति ही, वह भी अपनी सुख-दुःख की पूँजी रखता है। अभाव की पीड़ा उसे भी सताती है, प्रभाव की मस्ती उसे भी आती है दुःख और सुख समाज में सभी को एक-सा है, परन्तु समाज जहाँ उसे मौन हो सहता है, साहित्यकार उसे अपने स्वर देता है, शब्द देता है। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। वह समाज का प्रतिनिधि होता है। सामाजिक जीवन उसके शब्दों में मुखरित हो उठता है। सच्चे अर्थों में वह समाज का मुख है।

आज का संसार विचारों का संसार है। परिवर्तन विचारों के क्रोड में पलता है। वर्तमान का असन्तोष विचारों के बीज से उगा है। दूसरों की उन्नत अवस्था से, हमारी हीन अवस्था की तुलना कर, साहित्य समाज में क्रांति की ज्वाला धधकाता है। फ्रान्स की राजक्रान्ति वोल्तेर और रूसो के विचारों में ही जन्मी थी। जर्मनी के हिटलर द्वारा महासागर का आह्वान, नीत्शे आदि के विचारों का ही परिणाम था। बंकिम बाबू का 'वन्दे मातरम्' भारत के दीवानों का वेद मन्त्र बन गया था। फाँसी का फन्दा चूमता हुआ कण्ठ 'वन्दे मातरम्' का ही गान करता था।

हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र मे बाँधता है। रामानुजन की, केरल में घर-घर गायी जाने वाली, कन्नड रामायण हो या मद्रास प्रदेश मे सर्वत्र प्रशंसित कम्बन की तमिल मे लिखी रामायण, महर्षि वाल्मीकि की रामायण हो या तुलसी रचित 'रामचरित मानस' सभी एक स्वर से आदर्श राम के चरित्र का गान करती है। शान्त और समन्वय के गीत गाती हैं, असत् पर सत् की विजय प्रदर्शित करती है। भाषा कोई भी हो भाव एक है, लेखक कोई भी हो, दिशा एक है। समाज की आत्मा साहित्य में मुखरित होती है जो सर्वत्र एक-सी प्रकट होती है। चाहे 'बंकिम बाबू का बंगला में 'वन्दे मातरम्' हो या 'प्रसाद' का हिन्दी मे 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', सर इकबाल का उर्दू मे, 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' हो या अंग्रेजी मे सरोजिनी नायडू का अपने लिए संदेश 'येट मस्ट आई गो व्हेयर द लाउड वर्ल्ड बेकन्स'—

Yet must I go where the loud world beckons—

सभी मे एक ही भावना है देशभक्ति की। साहित्य मे व्यक्त, यही एकता और एकात्मता के सूत्र समाज को इकाई में बाँधे रहते हैं।

समाज की एकता से भी ऊपर उठकर साहित्य मे मानवता की गूँज है। काव्य कवि के हृदय का इतना प्रसार करता है कि सारा विश्व उसके भीतर समा जाता है। वह विश्व हृदय हो जाता है। समय और क्षेत्र की सीमाएँ टूट जाती हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दो में—

"कविता ही हृदय को प्रकृत दशा मे लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका मन अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नही रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"

कवि ब्रह्मा से बढकर है। उसकी रचना बंधनो से मुक्त है। काव्य मे आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है, बाह्य सामग्री का आश्रय और बंधन नहीं रहता।

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रताम्।

नव-रस रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।—काव्यप्रकाश

कवि जहाँ संसार मे विरोध, वैषम्य और प्रतिकूलता देखता है वहाँ वह अपनी कल्पना में अपने आदर्शों के अनुकूल ढलने का प्रयास करता है। इसीलिए उसे प्रजापति कहा गया है। उसकी रुचि के अनुकूल उसकी सृष्टि बनती है—

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ —अग्नि पुराण

काव्य मनोविकारों को परिष्कृत कर हृदय को लोक-मंगल की भावना से भर देता है। मानव की विरोधी वृत्तियाँ समन्वय के रूप मे बँधती हैं। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् मे विरोध मिटता है। शील का विकास होता है। हृदय बुद्धि की अँगुली पकड, उसे कर्म के क्षेत्र मे उतारती है, बुद्धि भावुक हृदय के स्वरूप पर अकुश लगा मर्यादा का अवगुंठन देती है और कर्म, बुद्धि तथा हृदय मे समन्वय स्थापित कर लोक-मंगल की धारणा करता है।

तभी तो तुलसी ने जीवनोपयोगी काव्य को सार्थक कहा है—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कँह हित होई।'

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि मे एक स्थल पर लिखा है—

"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख और शान्ति पहुँचाना ही यदि कवि का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी एक विलास की सामग्री हो जायेगी।

साहित्य सृजन के धरातल पर, आनन्दमयी अभिव्यक्ति की वह पावन सुरसरि है, जिसमे अवगाहन करते ही, मानव हृदय स्वार्थ के सकुचित मण्डल से निकल, कल्याण के बृहत् क्षेत्रो मे प्रवेश करता है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है।

जन-चेतना के वाहक प्रेमचन्द

मानव प्रस्तर-प्रतिमा नहीं। जीवमान इकाई है। मस्तिष्क में जिसके चिन्तन है, हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी इसी दिशा में लगी है। चरण गतिवान है और कर कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्र स्वाँस लेना ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विषम चट्टानों को तोड़ती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन कर्म के समापन पर, सागर से गले जा लगती है। तभी तो भावन है, तभी तो पावन है और तभी है पूज्य।

हमने इस भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के स्वरूप में, तो कभी कृष्ण की काया में, कभी गौतम में, तो कभी गांधी में। इसमें विराट् का दर्शन है। समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का मंत्र है, संगठन का तंत्र है।

यही तो है चेतना का सत्य। चेतना एक पक्षीय नहीं होती। चेतना का स्वभाव ही है सब ओर फैलना। उसके कोई पीठ नहीं, सब उसके सम्मुख है। समाज उसी के विकास का फल है। स्वभाव के अनुकूल चेतना सृजन करती है और स्वभाव के प्रतिकूल विध्वंस। अहं से संचालित चेतना विनाशवाहिनी है और करुणा से प्लावित वह सृष्टिदायिनी।

चेतना वाहक 'समाज' की प्रकृति अपनी धरती की गोद में बनती और बिगड़ती है। भारत की धरती कर्म की धरती है, धर्म की धरती है। निर्माण यहाँ का स्वर है। दान यहाँ का स्वभाव। भारतीय चेतना की धारा इसीलिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' गुनगुनाती हुई पेड़-पौधों और पाषाणों के भी चरण पूजती चलती है।

वैयक्तिक चेतना का बूँद-बूँद जन-चेतना की सरिता का स्वरूप ढालता है जिसमें समाज अवगाहन कर, संस्कृति मन्दिर में, अपने विराट् का पूजन करता है। जन-चेतना की सरिता के जल में सर्वत्र गुण समान है। सर्वत्र कल्याणप्रद है।

आदि काल से, अपना वैशिष्ट्य लिये, जन-चेतना, वाणी वाहन पर चलती आयी है। कहीं विराम नहीं, कहीं भटकाव नहीं। विराम ही तो मृत्यु है' जिसकी गोद में मिस्र और रोम समा गये। भटकाव ही तो विध्वंस है जिसके शिकार न

जाने कितने देश बने। भारतीय जन-चेतना अबाध गति से, पाषाणों को तोड़ता, घाटियों को लाँघती तूफानों से लड़ती चलती चली आ रही है। हो भी क्यों न उसे वाहक जो मिले हैं, सूर-से, तुलसी-से, राय धनपत-से।

सूर ने जीवन को सरसता दी, तुलसी ने आदर्श और प्रेमचन्द ने यथार्थ-अनुभूति। जन-चेतना के सागर में पैठ, गहराई में गोताखोर की भाँति यदि सूर जीवन अमृत खोज लाये, तुलसी ने अतल गहराइयों से आदर्श के मोती ला बिखेरे तो कुशल नाविक की भाँति प्रबल झंझावात में प्रेमचन्द प्रत्येक विपत्ति के बादल को समझते हुए समाज नौका को स्वतन्त्रता की देहरी पर ला टिकाने में समर्थ हुए।

प्रेमचन्द ने गीत नहीं गुनगुनाये, जनता की पीर जनता की भाषा में रोई है, जनता का आक्रोश जनता के स्वरों में दिया है, जन-जागरण की ज्योति, जनता की लौ में फूटी है।

आदर्श उनके कल्पना-लोक से नहीं उतरे, धरती की गोद से उठे हैं पात्र स्वर्णिम अतीत से नहीं, वर्तमान में उभरे हैं। 'सूर' हो या 'होरी', 'धनिया' हो या 'मनिया' वर्तमान की झोपड़ी में बैठे हैं, अपने समय के खलिहान में खड़े हैं।

चिन्तन और मनन नहीं, समग्र का स्पर्श, अपना नहीं समाज का स्वर ही प्रेमचन्द की साधना है। शिशु 'रुपिया' से लेकर वृद्ध 'होरी' तक, ग्रामीण 'धनिया' से लेकर नागरी 'मालती' तक, हरिजन 'मधुआ' से लेकर, पंडित दातादीन तक, श्रमिक 'गोबर' से लेकर मिल मालिक 'खन्ना' और पत्रकार 'ओंकारनाथ' से लेकर दार्शनिक 'मेहता' तक, सभी समान रूप से प्रेमचन्द के अपने हैं और उन्हें अपनी पैनी लेखनी से साहित्यकार ने अमर कर दिया है। मानव तो मानव, जन चेतना से संस्पर्शित गौ और बैल तक प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल नहीं हो सके। कितनी व्यापक थी उनकी सहानुभूति, कितना विकसित था उनका मानव पक्ष।

व्यक्ति के प्रति निर्मम होना कभी सीखा नहीं। व्यक्ति के स्वार्थ को, उसकी लिप्सा को, अहं को, उधेड़ कर रख देते हैं, परन्तु उससे घृणा नहीं करते। चाहते हैं अपने को समझें, सुधारें। मानव के प्रति घृणा के लिए इस मानवतावादी लेखक के पास अवकाश कहाँ?

'मधुआ' और 'घीसू' को, अकर्मण्यता का शिकार, विकृतियों का बन्दी चित्रित करते परन्तु घृणा नहीं करते, चाहते हैं कि बुधिया की कर्म-प्रेरणा उन्हें भी प्राप्त हो। अकर्मण्यता के अभिशाप से निकाल, जीवन को कर्म के वरदान तक लाना उनका ध्येय है। चेतना की यही प्रकृति है, अकर्मण्यता तो उसकी विकृति है। पश्चिमी सभ्यता की कुरूपताओं और सामंतवादी संस्कारों से युक्त 'गोदान' की

'मालती' रोमाण्टिक होते हुए भी कर्म और सुधार की चेतना से पूर्ण है। 'होरी' कहीं भी कर्म से पलायन नहीं करता।

समन्वय भारतीय जन का वैशिष्ट्य है, संघर्ष परस्पर का विकार। प्रेमचन्द का साहित्यकार इस दिशा में सजग है और कितना संयत। फूस की झोंपड़ी से लेकर अट्टालिका तक छिपी विकृतियों को बाहर ला फेंकते हैं, फिर चाहे 'मधुआ' हो या 'वल्ली' न्याय की तुला पर कोई छूटता नहीं। एक अकर्मण्यता का शिकार है तो दूसरा स्वार्थ का। हरिजन से लेकर पण्डित तक प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि से बचते नहीं। 'दातादीन' का पाखण्ड हो या 'घीसू' का मद्यपान, प्रेमचन्द उसे चित्रित करते हैं। गुण कहीं भी हो, गुण है। मेहता का चिन्तन यदि संस्कार-क्षम है तो 'होरी' का कर्म-सन्देश कहीं कम नहीं। नगर में यदि जागरण के स्वर हैं तो ग्राम में कर्म का धरातल। 'गोदान' में 'पहाड़ी लड़की' कर्मठता, सेवा और समर्पण में नगर की 'मालती' से कहीं आगे है, और 'मालती' चिन्तन में समाज को दिशा देने में समर्थ।

'दो बैलों' की कहानी हो या बच्चों की कहानी 'ईदगाह', चाहे 'पूस की रात' में अपने कुत्ते के साथ काँपता, आग तापता और क्रीड़ा करता 'हल्कू' किसान हो, या कफन के पैसों पर शराब पीकर नाचते हुए बाप-बेटों का गान, चाहे धैर्यवान्, संघर्षरत 'होरी' का निरुपाय दान हो, चाहे आत्मदहन की अग्नि में मन्द-मन्द जलती हुई 'निर्मला' सर्वत्र गहरी मानवीय दया की अनुभूति होती है, जो प्रेमचन्द की अपनी है।

स्वातन्त्र्य आन्दोलन के जन-स्वर, प्रेमचन्द की लेखनी से सतत गूँजे हैं। 'दुलाई वाली' में वर्ग-भेद विरोधी आन्दोलन, 'लालफीता' में हरिविलास का नौकरी छोड़ असहयोग आन्दोलन, 'जुलूस' में वयोवृद्ध सत्याग्रही इब्राहीम के दरोगा द्वारा घोड़े से कुचले जाने पर, असहयोग का जन-ज्वार, 'जेल' में मृदुला को गिरफ्तारी पर नारी-जागरण, 'कर्मभूमि' में बलात्कार का प्रतिशोध आदि इसी दिशा के बोधक हैं।

प्रेमचन्द जनता के स्वर को पहचानते थे। जनता सुतन्त्र चाहती है, स्व-तन्त्र चाहती है, आज का पैसे से सञ्चालित चुनाव तन्त्र नहीं। 'गोदान' में खुर्शीद कहता है "मेरा वश चले तो मैं कौन्सिलों में आग लगा दूँ। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है, चुनाव में वही बाजी मार ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं।"

भारतीय समाज की आधारशिला पर प्रेमचन्द का साहित्यकार खड़ा है। विश्वास जिसका लक्ष्य है, श्रद्धा जिसका स्वभाव है, आस्था जिसकी डगर है और

ईश्वर जिसका पड़ाव । 'ज्ञानशंकर' कह उठता है "प्रेमशंकर का दोष नहीं ज्ञानशंकर का दोष नहीं, सब मेरी प्रारब्ध की कूट लीला है।" 'गोदान' की 'मालती कह उठती है "मेहता ईश्वर के लिए अब आगे मत जाओ, नहीं मैं पानी में कूद पड़ूंगी" उस संकट में मालती को ईश्वर याद आया, जिसका वह मजाक करती थी।

होरी की आस्था है कि "गऊ दरवाजे की शोभा है।" 'मालती' की यात्रा श्रद्धा में समाप्त होती है, जहाँ वह प्रकाश में नक्षत्र-सी नजर आती है, अपने को मिटा डालती है और मिटाने को ही अपना जीवन समझती है।

निर्माण में, नींव को नहीं भूला जाता। जितनी गहरी नींव होगी, निर्माण भी उतना ही महान् होगा। अतीत की गहराइयों में वर्तमान की नींव है, स्वर्णिम भविष्य का भवन इसी नींव पर खड़ा होगा। प्रेमचन्द की धारणा थी कि यदि सामाजिक मूल्यों को छोड़कर परिवर्तन आता है तो वह निस्सार होगा। उन्होंने भारतीय परिवार में पनपे बन्धुत्व प्रेम, त्याग, सहयोग आदि मूल्यों का वरण किया शहरी कथाकारों की भाँति प्रेमचन्द परिवार नहीं तोड़ते, परिवार के धागे जोड़ते हैं। होरी भाई हीरा के लिए क्या नहीं करता ?

'मेहता' भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं "अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिरों से हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा।"

भारतीय संस्कृति अर्थ प्रधान संस्कृति नहीं, अर्थ यहाँ का सर्वस्व नहीं साध्य नहीं, कर्म का साधन है, आधार है। 'अर्थ को साध्य' के स्थान से दूर फेंकते हुए मेहता कह उठते हैं, "धन मेरे लिये बढ़ने और फूलने वाली चीज नहीं, केवल साधन है।"

प्रेमचन्द की दृष्टि में सोहाग नारी का सर्वस्व है। सिलिया समर्पण करती है। झुनियाँ विपत्तियों को झेलती है और धनियाँ विपन्नता के अथाह सागर में सोहाग को ही, सागर पार करने के लिए, वह तृण समझती है जो उसका है और उस पर उसे विश्वास है। नारी की धारणा-मात्र प्रेमचन्द के पात्रों की धारणा नहीं, यह तो जन-चेतना की धारणा है।

समाज की समस्याओं को मुखरित करते हैं प्रेमचन्द, जो जन-जन के मन में भरी है। विधवा विवाह पर भोला द्वारा आपत्ति किये जाने पर गोदान का होरी ललकारता है, "तुम अब बूढ़े हो गये हो भोला। पर आज भी तुम्हें सगाई की धुन सवार है, फिर वह तो अभी बच्चा है।"

जाति-प्रथा पर प्रहार करते हुए 'झिंगुरी' बोल पड़ता है, "मैं तो खुल्लम खुल्ला कहता हूँ, इसमें छिपाने की कोई बात नहीं स्त्री जाति पवित्र है।" दहेज-प्रथा पर कितना साहसिक प्रहार है साहित्यकार का, सोना के मुँह से "मैं तो सोनारी वालों से कह दूँगी अगर तुमने एक पैसा भी दहेज में लिया, तो मैं तुमसे ब्याह न करूँगी।"

राजनीति और पैसे के प्रभाव को धिक्कारते हुए प्रेमचन्द के पात्र कहते हैं—"हममें आदमियत कहाँ, आदमियत वह है जिसके पास धन है, अख्तियार है, इल्म है। हम लोग तो बैल हैं।"—झिंगुरी के लिए कानून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है।

प्रेमचन्द के सभी पात्र अपनी धरती पर खड़े हैं, उनके नाम, उनके वेश, उनकी भाषा, उनके संस्कार अपने हैं। भारत के कथाकार की भाँति नहीं, कि नाम भारत का और दर्शन विदेश का।

उनके साहित्य में, समस्त देश का जीवन, समस्त मानवता का जीवन, एक विशाल समुद्र की तरह उद्वेलित होकर आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। वह नैराश्य के भीतर से प्रकाश का, दुःख और दारिद्र्य के भीतर से अपराजेय पौरुष, साहस तथा शक्ति का संदेश देते हैं। सामूहिक जीवन के वह अद्वितीय चितेरे हैं।

भारतीय जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं रहा है जो प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल हो। राजनीति के स्तर पर जिस प्रकार गांधी ने पथ प्रदर्शन किया, साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से प्रेमचन्द ने वही प्रकाश हमें प्रदान किया, सम्पूर्ण भारतीय जन-चेतना उनकी सम्बल लेखनी पर बैठ यात्रा करती है।

मानव विकास के लिए राजपथ भूगोल

सूर्य का तेज और सामर्थ्य ले धरती जन्मी और जीवन-पथ पर चरण रखती आगे बढ़ी। समय के साथ स्वरूप में निखार आया, अंगों में उभार आया और रस आनन्द-सरिता बन बह चला। यौवन सौन्दर्य पर मचल उठा। रंग-रंग के पुष्पों से शृंगार किया, उसने। सागर ने चरण पखारे, मलयानिल ने बिजन डुलाया और नीले आकाश ने चाँद-सितारों से आरती उतारी। सौन्दर्य और यौवन अपनी सार्थकता के लिए व्यग्र हो उठा और तभी धरा सार्थक हुई, अपनी गोद में ले शिशु को। शिशु ने 'माँ' कह धरा को पुकारा और धरा ने 'पुत्र' कह शिशु को सँभाल लिया—

माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्या।

व्योम में चहचहाते हुए पक्षियों में, जलराशि पर तैरते हुए मछलियों के झुंडों में, वन में दहाड़ते हुए सिंहों में, मैदानों में कुलाँचें भरते हुए हिरनों में, और सबके ऊपर बुद्धि से शासन करने वाले मनुष्यों में, 'माँ' धरती ने अपनी अग्नि का तेज, अपने वायु का वेग, आकाश का व्याप, जल का तारल्य और रज का सबल आधार भर दिया। 'माँ' का ही अस्तित्व पुत्रों में व्यक्त हुआ। वही तत्त्व-रचना के आधार बने।

(क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंचतत्त्व यह रचित सरीरा॥)

विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होने वाले धरा के अंग अनेक हैं, परन्तु सभी मिलकर धरा एक है, अंगों पर पलने वाले व्यक्ति-समूह विभिन्न और अनेक हैं परन्तु हैं सब एक। मानव और उनकी जीवन-धारा अलग-अलग होते हुए भी हैं एक-दूसरे की पूरक। सम्पूर्ण धरती एक कुटुम्ब है।

वसुधैव कुटुम्बकम्।

धरती का ज्ञान जगती के मनुष्यों को, एक कुटुम्ब की अनुभूति करा देता है एक देश की समस्या का निदान, दूसरे देश की धरती करती है। भारत की कपास जापान के वस्त्र उद्योग की समस्या का निदान है और अरब का तेल भारत की समस्या का निदान। सहकार और सहानुभूति ही, विभिन्न देशों की समस्याओं का निदान है। यह भौगोलिक आवश्यकता है और इसका ज्ञान है, वसुधैव कुटुम्बकम् का सफल आधार।

विश्व सम्भावना के लिए सही दृष्टिकोण, सही तथ्यों को आधार मानकर, अन्य कोई भी नहीं रख सकता। आज के तनावपूर्ण जगत् में यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। भूगोल के सहारे छात्रों मे एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पोषित किया जा सकता है।

प्रत्येक भौगोलिक इकाई, देश, मे वहाँ का धरातल, वहाँ की मिट्टी, वहाँ की जलवायु, वहाँ की वनस्पति, वहाँ का खनिज एक विशिष्ट स्वभाव विकसित करता है, जिसे वहाँ पर रहने वाला समाज अपने जीवन में उतार, राष्ट्र वैशिष्ट्य का रूप देता है। भारत की प्रकृति ने समन्वय का, शील का, कर्म का ज्ञान का, सातत्य का, जो रूप निखारा है, उसी को लेकर भारतीय, विश्व मे सिर ऊँचा किये खड़ा है। इस स्वभाव को, जिन पात्रों ने सर्वोत्तम अभिनीत किया, उन्हें हमने पुरुषोत्तम ही नहीं, भगवान् कह पूजा है। वही हमारे आदर्श हैं—राम, कृष्ण, गौतम, गांधी ...। इसी अभिनय को करने का हम प्रयास करें। यही हमारा अभिनय है। लेनिन और लिंकन हम नहीं हो सकते। लिंकन और लेनिन हम बनें तो भारत भारत नहीं होगा—हो जायेगा अमेरिका और रूस।

अपनी धरती पर व्यक्ति को, अपनी धरती की गन्ध लेनी होगी, अपने आकाश के तले विचरना होगा, अपनी हवा मे साँस लेनी होगी और अपने ही स्वरों को गुनगुनाना होगा। अपने गीत होंगे, अपने स्वर। अपनी धरती होगी, अपना आकाश। भूगोल इसी को तो मानव के कानों मे फूंकता है, समीपस्थ वातावरण व दैनिक जीवन की घटनाओं में रुचि पैदा करता है। संसार और उसके परिवर्तनशील वातावरण तथा वातावरण और मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध की जानकारी देता है। मनुष्य इसी वातावरण के अनुरूप अपने को ढालता है। नियतिवादी दृष्टि (Determinism) जहाँ वातावरण के अनुकूल व्यक्ति को बनने के लिए विवश करती है और सम्भववादी दृष्टि (Possiblism) प्रकृति पर अंकुश लगा उस पर शासन करने को कहती है, वहीं समन्वय की मुसकुराती धारा फूट पड़ती है। हम वातावरण के अनुरूप ढलते भी हैं और वातावरण को ढालते भी हैं। भूगोल इसी विकास का चरण धरता हुआ बढ़ता है।

यही पथ, मानव विकास का पथ है। ऐसा राजपथ, जहाँ टकराव नहीं, जहाँ भटकाव नहीं, सभी अपनी दिशा की ओर बढ़ते जाते हैं और उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। सभी सहज भाव से स्वभावानुकूल चलते जाते हैं और पहुँचते हैं अपने गन्तव्य पर।

आज का विश्व, भूगोल के ही चरणों चलकर यहाँ तक पहुँचा है। भूगोल के अतिरिक्त कोई भी विषय नहीं जो स्वाभाविक रूप से और आवश्यक रूप से आज की विश्व समस्याओं पर प्रकाश डाल सके। इसलिए सामान्य शिक्षा के लिए,

इतना महत्त्वपूर्ण कोई विषय नहीं है जितना भूगोल। आधुनिक संस्कृति और सभ्यता का विकास भूगोल के व्यापक ज्ञान में ही निहित है। पशु जीवन से उठकर मानव जीवन के श्रेष्ठ स्तर तक आने के लिए, भूगोल की दृष्टि ने ही, व्यक्ति को धरातल, जलवायु, वनस्पति आदि से पूर्ण पर्यावरण का ज्ञान कराया और उसके उपयोग के मार्ग प्रशस्त किये। भौगोलिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करते हुए, उनका स्वामी बन जाने का, उसने सफल प्रयास किया और इसीलिए तो वह चाँद-सितारों पर बैठा है, आकाश में उड़ा है, सागर पर तैरा है।

भूगोल ही तो है, जो वर्णित वातावरणों को हमारे सामने साकार कर देता है।

वातावरण ही क्यों साहित्य की भाषा भी तो भूगोल के साँचे से ही निकली है। इसीलिए तो भाषा का उच्चारण हो या लिपि भौगोलिक पर्यावरण की छाप लिये है। हिन्दी का 'अ' हो या 'इ', 'क' हो या 'ज्ञ' सघन वृक्ष—आम, अमरूद इमली—का ही स्वरूप प्रकट करेंगे और उर्दू का अलिफ।' हो या बे 'रे' हो या 'बे'। दुबले-पतले खजूर के वृक्ष का ही रूप सामने लाकर खड़ा करेंगे।

उच्चारण में भारतीय भाषाएँ यदि कोयल की, तोते की, गाय की, मृग की मोर की बोलियों को व्यक्त करेंगी तो अरब और ईरान की भाषाएँ ऊँट की बोली को।

भूगोल की गोद में पलने वाली संस्कृति, 'भू' की पवित्र और निश्छल आत्मा को प्रकट करती है तथा साहित्य उसका गान करता है।

'थारू' का जीवन हो या 'टोडा' का, नागा' का रहन-सहन हो या 'भील' का, भूगोल की आँख से देखिये सब स्पष्ट हो जायेगा—उसका कारण और उसका स्वरूप। बंगाली मछली खाता है और चावल, पंजाबी गेहूँ खाता है और दूध, बिहारी आम लेता है और कश्मीरी सेब। क्यों? भूगोल से पूछिये और वह सन्तुष्ट करेगा। बंगाली के केश लम्बे और लुभावने, कन्धे पुष्ट हैं और सुडौल, आँखें काली हैं और गोल, राजस्थानी लम्बे हैं और स्वस्थ, नेत्र चंचल हैं और सीधे, जानना है तो जाइये भूगोलवेत्ता के पास और वह समझा देगा। वह बता देगा कि बंगाल में बुद्धि और मारवाड़ में शौर्य क्यों निवास करता है?

युद्ध के मोर्चे पर भूगोल ही सच्चा मार्गदर्शक है। वही कहता है कि युद्ध कहाँ होगा? स्पष्ट घोषणा की है भूगोलवेत्ता ने 'कश्मीर संकट का क्षेत्र है।' 'कच्छ भारत की सुरक्षा की कुञ्जी है।' 'बंगाल विपत्ति का घर है।' हिन्द महासागर पर सभी की दृष्टि है। रणक्षेत्र के धरातलीय ज्ञान से लेकर, उसके उपयोगी-अनुपयोगी होने के साथ ही उसके रक्षण और उसके माध्यम से आक्रमण का समस्त ज्ञान, भूगोल के योग्य ज्ञान से ही सम्भव है। सोचिये, अगस्त्य ऋषि ने, युद्ध का संचालन कहाँ से बैठकर किया, सोचिये, कृष्ण द्वारका के धीश बने, गजनवी ने सोमनाथ पर

हमला किया पाक ने कच्छ पर आक्रमण किया। क्यों ? स्पष्ट है कच्छ भारत की सुरक्षा की कुञ्जी है।

व्यवस्था करनी है राज्य की तो केन्द्र कहाँ हो ? राजधानी कहाँ बने ? बतायेगा भूगोल का ज्ञाता, किस स्थान पर बैठकर समस्त क्षेत्र पर दृष्टि रखी जा सकती है, किस स्थान से सरलता और शीघ्रता से क्षेत्र के सभी स्थलों पर पहुँचा जा सकता है और किस स्थान को आक्रमण के समय सर्वाधिक सुरक्षित रखा जा सकता है। स्पष्ट करेगा भूगोल कि 'दौलताबाद' नहीं 'दिल्ली' ही राजधानी होनी चाहिये। स्पष्ट करेगा भूगोल कि प्रदेशों का आकार राजनीति की रेखाएँ नहीं भौगोलिक इकाई की सीमाएँ करें। ललकार कर कहेगा कि 'कश्मीर बचाओ' कश्मीर पर शासन के अर्थ है, भारत पर शासन और भारत पर शासन के अर्थ हैं विश्व पर शासन। डंके की चोट कहेगा यह कि राजनैतिक रेखाओं को भौगोलिक सीमाएँ समाप्त कर देती हैं। अस्वाभाविक इकाई राज्यों को एक दिन स्वाभाविक इकाई देश की गोद में सोना पड़ता है। पाकिस्तान अस्वाभाविक इकाई है और उसका समाप्त होना निश्चित है। अखण्ड भारत ही स्वाभाविक पूर्ण इकाई है।

जनसंख्या का प्रसार कहाँ, कितना और कैसा है ? उसकी समस्याएँ कैसी और कौन-कौन हैं ? भूगोल के दर्पण में देखने से ज्ञात हो जायेंगी। कहीं संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, तो कहीं जुड़ रहे हैं। कहीं गाँव उजड़ रहे हैं तो कहीं गाँव बस रहे हैं। कहीं शान्ति का क्षेत्र है तो कहीं अपराधों का बोलबाला है। अपराधों में भी भिन्नता है--कहीं कत्ल कहीं डकैती, कहीं तस्करी, कहीं चोरी; सभी के कारण हैं और भूगोल इन कारणों का उत्तर देता है। जहाँ चावल है, जनसंख्या घनी है, जहाँ जौ है जनसंख्या बिखरी है। जहाँ अर्थ के स्रोत हैं परिवार बने हैं, वहाँ नहीं हैं परिवार टूटे हैं। बीहड़ों में डकैतों का राज है। नगरों में चोरों का।

व्यावहारिकता के क्षेत्र में, पग-पग पर भूगोल के पथ-संकेत प्राप्त होते हैं। अर्थ के क्षेत्र में, कौन-सा उत्पादन, कहाँ लाभप्रद है, कौन-सा उद्योग कहाँ हितकर है, कौन-सा व्यापार कहाँ योग्य है, कौन-सा आयात ठीक है और कौन निर्यात ठीक, कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है और कौन-सा यातायात का साधन, भूगोल पर विश्वास कीजिये और पूछिये, उत्तर सही प्राप्त होगा। आज के अर्थ-युग में कितना आवश्यक है भूगोल का ज्ञान। इसीलिए तो कहा है कि देश की योजनाओं की बागडोर विशेषज्ञों की समिति के हाथ में हो, जिसका नेतृत्व भूगोलवेत्ता करे।

भारत की एकता और अखण्डता के लिए, भारत की व्यवस्था और सम्पन्नता के लिए भारत की अस्मिता और प्रभुता के लिए आज भूगोल के राजपथ की आवश्यकता है। इसी पथ पर चलते हुए केरल और कश्मीर को जोड़ा जा सकता

है, कच्छ को कामरूप से बाँधा जा सकता है। केरल के चरणों से उठने वाला मेघ, कच्छ जाता है तो कामरूप को भी नहीं छोड़ता, हिमाद्रि के सहारे पूर्व से पश्चिम यात्रा करता हुआ, कश्मीर की घाटी में विश्राम करता है। हिमाद्रि अपनी भुजा फैला भारत को संरक्षण देता है तो सागर भी प्रहरी बन रक्षा में सन्नद्ध खड़ा है। ब्रह्मपुत्र और सिन्धु उसकी अखण्डता की आवश्यकता पर बल देती हैं और पर्वत उसका प्रमाण। व्यवस्था के लिए भौगोलिक इकाइयों का गठन, तथा सम्पन्नता के लिए शक्ति साधनों की खोज और उनका उपयोग आवश्यक है। कब से कहता आया है भूगोलवेत्ता कि भारत पेट्रोल के सागर पर तैरता है। परन्तु खोज अभी भी अधूरी है। भारत की भौगोलिक स्थिति भारत को विश्व का महान् राष्ट्र बनाती है।

भारत के वैशिष्ट्य को भारत का भूगोल प्रकट करता है। दुर्भाग्य है कि हम अपना वैशिष्ट्य भी भूले और अपनी सामर्थ्य भी। आवश्यकता है आज अपने स्वरूप को पहचानने की, अपनी धरती की शक्ति जानने की और अपने वैशिष्ट्य को सही समझने की। यह सम्भव तभी है जब हम भूगोल के राजपथ पर चरण धरें, निःशङ्क हो चलें, अपने आकाश के तले, अपनी धरती पर जीवन यात्रा करें। इस धरती की वन्दना करें, अर्चना करें।

समाज-साधना की पावन डगर–शिक्षा

समाज व्यक्तियों का जमघट नहीं, जीवमान अस्तित्व है। मात्र जीवमान ही नहीं अनादि से चला आया वह अस्तित्व जिसके घटक तो बदले है पर वह नहीं बदला। व्यक्ति आये और गये, पर उसे किसी ने आते नही देखा, जाते नहीं देखा। सब उसी की गोद मे आये और उसी की गोद मे विलीन हुए, शिशु ने आँख खोली तो उसे समाज की गोद मिली, प्रसन्नता ने स्वागत किया। वृद्ध ने आँख मूँदी तो समाज की गोद मे मूँदी, वेदना ने भीगी आँखो मे बिदाई दी। समाज किसी के बनाये नहीं बना, समाज किसी के मिटाये नही मिटा, वह तो स्वयंभू है, मानवता है जिसके हम सब घटक हैं। सबमें वह व्यक्त है। करोडो उसके कर है पर कृति एक है करोडो उसके चरण है पर गति एक है, करोडो उसके नेत्र हैं पर दृष्टि एक है। वह विराट् पुरुष है जिसकी हमने वन्दना की है।

व्यक्ति इस विराट् की अस्थिर, परन्तु आवश्यक इकाई है। आना और जाना तो उसका क्रम है, पर समाज के प्रवाह मे कभी अभाव, उसका परिणाम नही। चलने मे उसे कभी चरणो की कमी नहीं हुई। बस चरण बदलते गये, वह चलता गया, कहार बदलते रहे, डोली चलती रही और चलते-चलते समाज की डोली जगल मे गाँव, गाँव से नगर, नगर मे महानगर और महानगर की धरती से आकाश के सितारो तक जा पहुँची। समाज की डोली व्यक्ति के चरणो ही चली है व्यक्ति के हाथो ही सजी है और व्यक्ति के लिए ही बनी है।

व्यक्ति, क्या हाड-मास का पुतला? नहीं, व्यक्ति रोटी, कपडा और मकान के लिए झपटने वाला क्या भूख का मारा भेडिया? नहीं। व्यक्ति क्या दूसरो पर आधिपत्य जमाने के लिए और भोग के सागर मे तैरने के लिए कोई पिशाच? नहीं, व्यक्ति है मन, मस्तिष्क, हृदय, आत्मा और काया का श्रेष्ठ समुच्चय-समाज का अंग और उसका प्रतिनिधि। समाज उसमे व्यक्त है, वह समाज को व्यक्त करता है। निरन्तर गतिमान अभिव्यक्त अतीत की ज्ञान-थाती पूर्वजो से समेट वर्तमान में चला और भविष्य मे अपने द्वारा संशोधित, वर्द्धित इस थाती को, पुत्रों को और स्वयं चलता बना। वह चला गया, परन्तु समाज-चेतना नही गयी, सम्बन्ध नही गये, स्वभाव नही गया। वह पीढी-दर-पीढी बढ़ता गया। अनुभव उसे मानते और सँवारते गये। क्या यह ज्ञान की जय-यात्रा, क्या यह

अनुभव-प्रसारण की पावन प्रक्रिया शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ है ? अशिक्षित व्यक्ति की तो कल्पना की जा सकती है परन्तु अशिक्षित समाज की कल्पना नहीं। क्या माँ ने शिशु को बोलना नहीं सिखाया ? क्या दादी ने उसे कहानी सुना नहीं सुलाया ? क्या भाई ने पड़ोस का भूगोल उसे नहीं बताया ? सब चलता रहा, सम्बन्ध जुड़ते रहे।। प्यार पर वह खिलखिलाया, मन में श्रद्धा उमड़ी और समाज सम्बन्धों का त्रिभुज श्रद्धा, भक्ति और प्रेम पूर्ण हुआ।

इस शिक्षा-क्रम को, भारतीय दृष्टि ने, दायित्व की संज्ञा दी। व्यक्ति पर ऋण लादा। उसे ऋणी होना ही है। यह गुरु ऋण है। जो सीखा है, वह आगे वालों को सिखायेगा। केवल इतना ही नहीं तो परिस्थिति के अनुकूल और सुधार कर, संवादकर बढ़ाकर। भावी पीढ़ी का कोई उपकार नहीं, यह तो दायित्व है, जिसका निर्वाह करना ही होगा। अपने पूर्वजों से प्राप्त धरोहर को आगे की पीढ़ी को सौंपना होगा। पश्चिम का विद्वान् जान बुकन भी कहता है—

"हम भूत के ऋण से उऋण हो सकते हैं, यदि हम भविष्य को अपना ऋणी बनायें।"

शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है। सनातन प्रक्रिया है। स्वयम्भू प्रक्रिया है। सदैव अपनी भौगोलिक परिसीमा में, अपनी अनुभूतियों के बल, अपनी धरती की गन्ध ले अपने आकाश तले चला है। अपनी अभिव्यक्ति है, अपने माध्यम हैं। भाषा, भाषा के पर्याय सभी कुछ अपने। हो भी क्यों न। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं वह स्वयं अभिव्यक्ति भी तो है। भाषा के एक-एक शब्द के पीछे, समाज जीवन की अनुभूतियाँ, उसका इतिहास, उसका स्वभाव, उसकी संस्कृति सभी कुछ छिपी है। क्षेत्र स्वयं, शब्द के पीछे साकार होकर बोलता है। वाणी (भाषा) से ही समाज-जीवन की यात्रा चली है। 'वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।'

अनुभव के साथ-साथ ज्ञान की थाती बढ़ी। स्मरण-शक्ति की सीमा लाँघ, पात्र से बाहर भागने लगी। आवश्यकता पड़ी पीढ़ियों से संचित ज्ञान को आत्मसात् कर उसे सुबोध बना समाज को देने की। प्रत्येक की यह सामर्थ्य नहीं, इसलिए हुआ शिक्षण संस्थाओं का उदय, शिक्षक सामने आया, राष्ट्र के मानस के अनुरूप ज्ञान की इस थाती को आचरण मिला। समाज ने संस्कार दिये। संस्कार की भागीरथी बन 'शिक्षा' शैशव में कल-कल करती पाषाणों को काटने-छाँटने और शंकर बनाने लगी, तरुणाई में तटों को तोड़ ज्ञान के स्वाद में सैकतों को समेटने लगी और वृद्धावस्था में अनुभूति की गहराई ले समाज-सागर में हहरती जा मिली। समाज की सीखों के साथ चली शास्त्रीय शिक्षा, परन्तु केवल पुस्तकों के पन्नों में नहीं, पन्नों से

बाहर शिक्षकों के मौन आदर्शों के पावन प्रकाश में वह दिशा देती रही। स्वाध्याय 'साधना' की कसौटी बना। अपने को कसता हुआ साधना की कसौटी पर चढ़ता गया। व्यक्ति बना कभी नरेन्द्र से विवेकानन्द, तो कभी मोहनदास से महात्मा गांधी।

मानव प्रकृति की आधारभूत प्रवृत्तियों-भाववृत्ति, ज्ञानवृत्ति एवं कर्मवृत्ति को समन्वित कर व्यक्तित्व के विकास को ऊँचाई दो। तीनों का ही चिन्तन साथ-साथ विकास में साधक बना। अलग-अलग एक-एक का चिन्तन स्वतन्त्र रूप से बाधक हुआ। यदि भाववृत्ति विवेक को छोड़कर बहती चली गयी तो कर्तव्य की पहचान कहाँ? यदि भाववृत्ति में बह गये, कर्मवृत्ति छोड़ दी तो निर्माण कैसा? चाहिये इसलिए भाववृत्ति के साथ ज्ञानवृत्ति, विवेक और दोनों के साथ कर्मवृत्ति। यदि बढ़ गयी, भाववृत्ति को छोड़, कहीं ज्ञानवृत्ति, तो सम्बन्धों को ही तोड़ [illegible]। कर्मवृत्ति में रमा व्यक्तित्व दूर गया ज्ञानवृत्ति को तो द्वन्द्व-द्वैत और बढ़ेगा। तीनों का ही साथ चाहिये। इसी में सौन्दर्य है। भाव के स्तर पर जो प्रेय है ज्ञान के स्तर पर वही सत्य है और कर्म के स्तर पर वही है श्रेय। भाव स्तर का प्रतीक है धर्म। ज्ञान स्तर का प्रतीक है विज्ञान और कर्म स्तर का प्रतीक है राजनीति। समाज में इन तीनों का सम्बन्ध चाहिये।

किसी भी एक का अभाव समाज को ले डूबेगा। व्यक्ति में भी भाववृत्ति से भक्ति, ज्ञानवृत्ति से ज्ञान, और कर्मवृत्ति से कर्म एक साथ व्यक्त हों। त्रिवेणी बन तीनों शक्तियाँ उदित हों, एक साथ।

आज लगता है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की?
एक दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की।

इसका समाधान है समन्वय। कल्याण का मार्ग है समन्वय। संस्कार भ्रष्ट राजनीति युद्ध देगी, धर्मरहित विज्ञान विनाश देगा, विवेकरहित संस्कृति जड़ता देगी। इसलिए चलें शिक्षा को समाजसापेक्ष, संस्कार की मार्गदर्शी बनायें जिसका दर्शन, मनन, पान, गान, स्मरण सभी कुछ सबके लिए कल्याणप्रद हो।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य

माँ धरती के पावन संस्पर्श की ममत्वमयी लहरियों में आते ही मानव मन झूम उठा। अमराइयों से आती हुई सुगन्धित समीर ने उसे दुलराया। किरणों की ऊष्मा कपोलों को लाल कर गयी। पक्षियों का कलरव उसका संगीत बना। अपने बछड़ों के लिए रंभाती गायों की पुकार उसके लिए पुकार बनी।

आँख खोली, तो अपने को माँ की गोद में पाया। जिधर देखा—उधर धरती का विस्तार और इस धरती की विशाल गोद में, उसकी धवल आँखें माँ गऊ और वृक्षों पर तैरने लगीं। गऊ के स्वर-में-स्वर मिलाकर वह भी पुकार उठा 'म्हाँ' और 'म्हाँ' ने 'माँ' को जन्म दिया।

'शैशव' सितारों से खेला। चन्दा से अठखेलियाँ कीं। द्वार की देहरी लाँघ मृगछौनों की कुलाँचों में भूतल, मयूरों के नृत्य में झूमा, कोयल की कुहू में मस्त हुआ और सरिताओं के तट पर जा, कल-कल करती वेगमयी लहरियों में खो गया।

पीने के लिए दूध, खाने के लिए फल, खेलने के लिए धरती की गोद और मन रमाने को गउओं का साथ, पक्षियों का विवाद, सरिताओं का कलरव। अभाव नहीं, अशान्ति नहीं, अन्याय नहीं। जिज्ञासा-ही-जिज्ञासा।

जिज्ञासा ने चरणों को गति दी। चरण ऊँचाइयों को नापने लगे। गहराइयों को थाहने लगे। हिमाद्रि की धवल, आकाश को चूमती ऊँचाई, आँखों में आश्चर्य भर गयी, सिन्धु की गहराई मस्तिष्क में चिन्तन की लहर दौड़ा गयी। दृष्टि ने माँ धरती के विस्तृत वक्षस्थल पर सागर से मिलने के लिए आतुर, हिमाद्रि के चरणों से आती हुई पावनी गंगा को देखा और सागर के उस तूफान को देखा जो आकाश को चीरता हुआ, हवा के साथ, सागर माथा, से जा टकराया। वृष्टि हुई। वृष्टि ने धरती को भिगो दिया—तरुरम मन को भिगो दिया।

तरुणाई माँ धरती को नमन करने लगी। माँ ने अपनी छाती चीर समस्त सम्पदा बेटे को सौंप दी। वैभव-ही-वैभव। प्रौढता का स्वरूप। सर्वत्र सुख, शान्ति और आनन्द। कैसा संघर्ष? कैसा उत्पीडन? कैसा शोषण? प्रकृति माँ और मानव-पुत्र।

माँ 'प्रकृति' ने अपना स्वभाव पुत्र को सौंपा। मन मे उदारता, हृदय मे विशालता, चिन्तन मे समग्रता और आत्मा मे परम की खोज। समन्वय मानव का वैशिष्ट्य बना। हृदय की विशालता, पशुओं मे, पक्षियो में, अपना ही रूप देखने लगी। मस्तिष्क ने उन्हें एक ही नियन्त्रण तथा परमानन्द के लिए मोक्ष का मार्ग चुना।

रोटी उसका आराध्य नहीं। कुर्सी उसका साध्य नहीं। समाज की उपासना में उसने भगवान् की उपासना की। अपने व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास कर समाज को सम्पन्न और वैभवयुक्त बनाते हुए उसने मोक्ष की याचना की है। कर्म से कोष भरा है, धर्म से व्यवस्था दी है और ज्ञान से प्रकाश बिखेरा है। तभी तो यह धरती सोने की चिड़िया कहलाई। तभी तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्वर यहीं से गूँजे और तभी तो यह देश विश्व-गुरु बना।

यह था भारत का सहज और स्वाभाविक विकास। अपनी धरती पर, अपनी प्रकृति और परिस्थिति के अनुरूप अनादिकाल से, विकसित होता चला आया, व्यक्ति और समाज का स्वस्थ स्वरूप। इन्हीं संस्कारों की शिक्षा की छाया में 'राम' का आदर्श मिला—जिनके 'राम राज्य' का स्वप्न गांधी ने देखा।

विदेशियो की ललचाई दृष्टि भारत पर पड़ी। आक्रमण-पर-आक्रमण हुए और दासता की बेड़ियो ने भारत को जकड़ लिया। स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हुआ। शिक्षा की दिशा बदली। संस्कारों का स्वरूप बदला। व्यक्ति में—पूर्ण व्यक्तित्व—का नहीं, दासत्व का विकास हुआ। आत्म-सम्मान खो गया। विद्वानों का उदय रुका, मुन्शी और बाबुओं का जन्म हुआ। भारतीयों में हीनता की भावना बैठ गयी। श्रेष्ठ संस्कारों और परम्पराओं का प्रश्न जाता रहा। न व्यक्ति का विकास हुआ और न समाज का संस्कार।

दासता के विरुद्ध अंगड़ाई ले रही, राष्ट्रीय चेतना दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और गांधी जैसे देशभक्त मार्गदर्शक दिये। अरविन्द के स्वर गूँज उठे—

"हम अतीत के पुत्र हो, वर्तमान के स्वामी हो तथा भविष्य के निर्माता हो।"

"अतीत हमारा आधार है, वर्तमान हमारी सामग्री है और भविष्य हमारा लक्ष्य।"

विदेशी दासवृत्ति उत्पन्न करने वाली शिक्षा की कटु आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—

"सच्ची शिक्षा वही होगी जो व्यक्ति व राष्ट्र की आत्मा के मन व शरीर में यथार्थ कार्य करने का यन्त्र होगी।"

गांधी जी ने विचार व्यक्त किये—

"शिक्षा का एकमात्र ध्येय ऐसे मनुष्यों का निर्माण करना है जो स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, विशुद्ध रूप से कल्पना कर सकते हैं, उत्तम रीति से सोच सकते हैं, सद्भाव से संकल्प कर सकते हैं, शीघ्रता से योजना बना सकते हैं और स्वदेश की सेवा के लिए ईमानदारी से कार्य कर सकते है।"

परतन्त्रता के बन्धन टूटे। सत्ता का परिवर्तन हुआ। स्वतन्त्रता का उपनाद हुआ। परन्तु 'स्व' तन्त्र नहीं आया, 'स्व' मन्त्र नहीं आया। इतना ही नहीं, दासता के विरोध में जल रही प्रखर राष्ट्रीयता की मशाल भी बुझ गयी और देश आँख मूँदकर पश्चिमी सभ्यता के पीछे—अपने आदर्श और अपने मूल्य छोड़—दौड़ पड़ा। अँग्रेजी गाँव-गाँव गली-गली बस गयी, विदेशी वेश दिल्ली के राजपथ से लेकर सन्त की सुदूर कुटिया तक जा पहुँचे। निर्जीव पुस्तकों में सिर खपा, तोते की तरह रटते हुए, परीक्षा वैतरणी को किसी भी प्रकार पार कर, देशभक्ति से शून्य, शरीर से कृश, हृदय से सकुचित और आत्मा से निर्बल सहस्रों की संख्या में तरुण, डिग्री का बण्डल लादे, नौकरी के लिए कुण्डी खटखटाने लगे।

मनुष्य केवल शरीर नहीं है, जिसके पोषण और बलवर्द्धन को शिक्षा का उद्देश्य मान लिया जाय। मनुष्य केवल मस्तिष्क नहीं है, जिसके विकास के लिए उसे ज्ञानराशि से भर दिया जाय। मनुष्य केवल हृदय नहीं है, जिसको सरस बनाने के लिए कला और सौन्दर्य से भर दिया जाय। मनुष्य कुछ और भी है, जिसके बिना वह मनुष्य नहीं बन सकता। मनुष्य मन, मस्तिष्क, हृदय, आत्मा और शरीर का समुच्चय है, जो समाज का अंग होने के साथ ही समाज का प्रतिनिधि भी है।

इसलिए समाज को सस्कारित और श्रेष्ठ बनाने के लिए, समाज के अंग-स्वरूप प्रत्येक मानव को सुशिक्षित और सस्कारित करना होगा। हृदय में सागर की विशालता, मस्तिष्क में सूर्य की प्रखरता, आत्मा में परम की सबलता और काया में फौलाद की दृढ़ता भरनी होगी। ऐसे बने मानवीय अस्तित्व को सुपात्र की वेदी पर अपने सभी स्वार्थों की आहुति देनी होगी—यह धारणा होगी पावनी देशभक्ति की गंगा की जिसमें अवगाहन कर प्रत्येक भारतीय पुण्य का भागी बने और भारत माँ की वन्दना में सर्वस्व समर्पण कर भविष्य का क्रियात्मक।

अतीत की गहराई में नींव खोद, वर्तमान की सबल सम्पन्न दीवारें खड़ी कर, हम मस्तिष्क की ऊँचाइयों पर पहुँचने का प्रयास करें।

'स्व' को भुलाकर हम समर्थ नहीं बन सकते। अपने स्वभाव और अपनी

कृति को समझना होगा। श्रद्धा और विश्वास को जगाना होगा। श्रद्धा भक्ति देती और विश्वास देती है।

आज भारत को ही नहीं, विश्व को आवश्यकता है, भारत की धरती पर शिक्षा के प्रकाश की जो भौतिकता की आंधी में भटक रहे विश्व को विनाश से बचा सके, शक्ति के पैशाचिक ताण्डव को रोक सके। मस्तिष्क पर हृदय के नियन्त्रण की आवश्यकता है। राजनीति पर—व्यक्ति धर्म और समाज धर्म के अंकुश की आवश्यकता है।

इसलिए ऐसी शिक्षा चाहिये जो समाज देश के लिए समर्पित, तन से स्वस्थ, मन से प्रसन्न, हृदय से विशाल, मस्तिष्क से प्रखर और आत्मा से सबल तरुणों का निर्माण करे।



तिरंगा प्यारा

ध्वज किसी संस्था, किसी संगठन, किसी समाज, किसी दल या किसी देश की पहचान का प्रतीक है ? ध्वज किसी अस्तित्व के बोध का, आकाश में फहराता हुआ स्वरूप है ? नहीं ! नहीं !! ध्वज मात्र पहचान का प्रतीक नहीं। ध्वज मात्र अस्तित्व-बोध का परिचायक नहीं। ध्वज तो हमारी समग्रता का सूत्रात्मक उद्घोष है। ध्वज तो हमारे जीवन-मूल्य का फहराता साकार स्वरूप है। ध्वज तो हमारी निष्ठा का पावन प्रतीक है। इसी समग्रता के लिए, इसी मूल्य के लिए और इसी निष्ठा के लिए हम जीते है, हम मरते हैं। देखा नहीं, हमारी समग्रता को गाता हुआ हमारे मूल्य को फहराता हुआ और हमारी निष्ठा को ऊँचा और ऊँचा उठाता हुआ हमारा केसरिया कब से आकाश में फहर रहा है। राम के रथ पर फहरा, अर्जुन के रथ पर लहरा, राणा और शिवा के साथ फर फर फहरा और आज भी वह फहराता है सिर उठाये तो फहरता जा रहा है। क्या यह केसरिया, क्या यह भगवा मात्र चिह्न मान लें हम ? इसमें क्या हमें मानवता के उगते हुए सूर्य की लाली नहीं दिखती ? क्या हमें, इसमें यज्ञ की उठती हुई लपटों की लालिमा नहीं मिलती ? क्या हमें इसमें साधु-सन्तों के केसरिया वस्त्रों में प्रकटी पवित्रता और समर्पण की भावना नहीं दिखती ? क्या हमें, इसमें माँ धरती के लालों के बलिदानी रक्त की पावन धारा नहीं समझ आती ? क्या इसे देखते ही, हमारे सामने राम, कृष्ण, राणा, शिवा, पद्मिनी और लक्ष्मीबाई की समाज और देश के लिए तिल-तिल जूझती हुई पावन मूर्ति नहीं निरखी ? राष्ट्र-जीवन का सब कुछ तो, प्रकट कर देता है यह भगवा हमारा।

प्रत्येक राष्ट्र का अपना ध्वज है। छोटा हो या बड़ा, राष्ट्र तो राष्ट्र है उसका अपना अस्तित्व है। अपना दर्शन है। अपना मूल्य है। ध्वज उसको को व्यक्त करता हुआ, फहराता है। कहीं रंग नीला है तो कहीं पीला, कहीं लाल है तो कहीं हरा। कहीं तारे चमकते है तो कहीं चन्दा। कहीं सूरज और चाँद दोनों ही चमकते है साथ-साथ। सब कहते हैं अपनी-अपनी बोध-कथा। सब में निहित है, समाज का दर्शन। इसी को ले वह गगन मे फहराता है।

परतन्त्रता के काल में, भारत के लाल किले पर, इसका अपना ध्वज भला कैसे फहरता। वहाँ तो फहराता था अंग्रेजों का परचम। हाँ, समाज के आँगन में

अवश्य ही केसरिया छिपा न था, फहराता था। मन-मन में बसा था। रामधनुष तानते ही, गीता उठाते ही, जब दर्शन होते थे राम के, कृष्ण के, तो रथ पर फहरता केसरिया भी मन में उतर जाता था। सबको विह्वल कर देता है, यह ध्वज। दासता से लड़ते-लड़ते, कभी ध्वज मन से उतरा न था। तिरंगे से पहले, इसी ध्वज को तो चाहा गया था और तिरंगा आया भी तो यही केसरिया सबसे ऊपर लेकर फहरा।

कहा गया, केसरिया त्याग और बलिदान का द्योतक है, मध्य में चमकता धवल श्वेत शान्ति का प्रतीक है और नीचे लहराता हुआ रंग है सम्पन्नता का प्रकाश। हमें शान्ति चाहिये, सम्पन्नता चाहिये और इसके लिए देना होगा बलिदान, करना होगा त्याग। सतत स्मरण कराने के लिए शान्ति का संदेश, मध्य में अंकित है अशोक का चक्र। घूमता हुआ प्रतिक्षण मानो एक यही शान्ति और अहिंसा का उपदेश देता है। यह तो भाव चाहा था तिरंगा राष्ट्र को समर्पित करने वालों ने। उनके मस्तिष्क की धारणा थी यह। इस धारणा को घर-घर उन्होंने पहुँचाया, समझाया। यह ध्वज ने नहीं कहा, यह ध्वज ने प्रकट नहीं किया। ध्वज के प्रति हमारी धारणा प्रकट हुई। हम क्या चाहते हैं, उसे ध्वज के रंगों में, उसके आकार में हमने पढ़ा।

ईश्वर का ही अक्षय विधान है सब। वह जो चाहता है, अपने पुत्रों से करवा लेता है। स्वयं तो करने कुछ आता नहीं। हमी तो उसके हाथ-पैर हैं। देश स्वतन्त्र हुआ। परतंत्रता गयी। तो 'स्व' का प्रकाश भी चाहिए। 'स्व' चमके, 'स्व' के प्रकाश में हम चलें, 'स्व' हमें रास्ता दिखाये। अपेक्षित था, इसीलिए तो, कि 'स्व' का स्वरूप बन ध्वज फहर-फहर फहरे। हमारी बुद्धि वैसी ही बनी। हमने रच लिया ध्वज। ध्वज जो 'स्व' का साकार स्वरूप ही है, राष्ट्र चैतन्य और राष्ट्र दिशा का सशक्त प्रतीक है। दृष्टि पड़ते ही, फहरते ध्वज को देखा, जड़ता पैरों की भाग जाती है। चरैवेति—चरैवेति गूँज उठता है भारत-कश्मीर से लेकर, कन्याकुमारी तक, गतिवान है। कश्मीर का बसन्त भगवा बन सिहर रहा है, राजस्थान का मरुस्थल धवल सिकता बन मध्य में विराजा है और केरल की हरीतिमा लहरा रही है तले। समय का चक्र क्षण-क्षण परिवर्तन का संकेत करता, बढ़ते रहने और बदलते रहने का संदेश दे रहा है। प्रतिपल का स्पन्दन ही तो उसकी स्वीकृति है। चक्र के संदेश को हृदय में धर, वह सतत पथ पर है। जागरूक रहें सदा, इसीलिए चक्र भी कभी आँख से ओझल नहीं होता। केसरिया, लहरते हुए रंग को, सरस्वती की अरुणिमा, बिखेर, मन को बाँध लेता है धवल सफेद मध्य में, बहती हुई पावन गंगा की ज्योति भर जाता है और हरा-भरा हहराती-घहराती माँ यमुना की छवि आँखों में उतार देती है। कैसा पावन है

यह गंगा, यमुना और सरस्वती का सगम । कर्म की गगा, ज्ञान की सरस्वती और शील की यमुना मिल, मानो सम्पूर्ण जीवन-शैली का विवेचन सामने रख देती है। कर्म चाहिये, परन्तु ज्ञान के खुले चक्षुओ के प्रकाश मे और यह भी शील मे सना स्नेह से पगा । यही कर्म तो निर्माण का आधार है ।

व्यक्ति बने, समाज सरसे और राष्ट्र विकसे, इसलिए कर्म की धारा बहती ही रहनी चाहिए, सतत ज्ञान का प्रकाश बिखरता और शील की छाँह तले कर्म का सुपरिणाम धरा पर बरसता । कैसे हो सभव यह सब ? कही विपत्तियो के बादल आकाश मे न छा जायें, कही व्यवधानो के तूफान व्योम पर न छा जायें और कही विप्लव की लपटें ही अपने आँगन मे न फैल जायें । इसलिए चाहिये सतत जागरूकता, सतत सन्नद्धता और सतत सक्रिय शक्ति का सम्पर्क । शक्ति बिना शान्ति कैसी ? शान्ति बिना सम्पन्नता कहाँ ? स्मरण कहाँ ? स्मरण दिलाने यही तो ध्वज के मध्य मे, कृष्ण का चक्र उतर आया है ? जहाँ चक्र है कृष्ण का, विजय-ही-विजय है वहाँ । रक्षा की दृष्टि यही तो चाहिए । राष्ट्र की एकता और राष्ट्र की अखडता इसी दृष्टि से रक्षित रह सकती है ।

चक्र को लेकर फहरता यह तिरगा, किसी सामान्य लकडी पर नहीं सधा है । लकडी नही यह तो दण्ड है । दण्ड और दण्ड भी धर्म का । धर्म के दण्ड पर सधा तिरंगा, धर्म छोड फहर नही सकता । व्यक्ति अपना धर्म पालन करें । बनें सशक्त, बनें चरित्र से युक्त, बनें प्यार, श्रद्धा और भक्ति के सम्बन्धो से सम्पृक्त, बनें समाज का अग और उसका सच्चा प्रतिनिधि, समर्पित हो तन-मन-धन-जीवन उसका इस समष्टि के लिए । बनते ही व्यक्ति के, समाज स्वय बन जाता है । समाज धर्म है, व्यक्ति को जनना, उसको पालना, पूर्ण विकास देना और समृद्धि के हाथो सुख-शान्ति की वरसा करना । समाज यह दायित्व वहन करे और समाज के लिए व्यक्ति अपने समाज धर्म का निर्वाह करे । सम्बन्ध साधे और समर्पित हो उसके हित । राष्ट्र का धर्म है, अपने पुत्रो मे प्रकटे, घर-घर चैतन्य को भर दे, सरक्षण और शक्ति दे और पुन उसका अपना राष्ट्रहित धर्म का निर्वाह कर राष्ट्र को अखण्डता दे, राष्ट्र को एकता दे, राष्ट्र को शान्ति दे, राष्ट्र को गौरव प्रदान करे । धर्म का पूर्ण प्राकट्य चाहिये । इसी दण्ड पर ध्वज रह सकता है ।

दण्ड रहे, दण्ड पर ध्वज रहे, इसीलिए करनी होगी साधना । साधना मन्दिरो मे नही, साधना यज्ञ-स्थलो पर नही । साधना जन-जन को, माँ धरती के कण-कण पर करनी होगी । कामना करते हुए, प्रार्थना करते हुए कि माँ तेरा पुत्र हूँ मैं, तेरा रक्त हूँ मैं, तेरा वात्सल्य हूँ मैं, तेरा ही तो हूँ मैं । तूने ही तो मुझे कष्ट सह, प्यार से पाला है । तू मेरी शक्ति है, तू मेरी भक्ति है, तू मेरा सर्वस्व है । तेरे लिए ही अर्पित है यह तन- यह मन- यह धन और यह जीवन

फिर भी तो मैं उऋण नहीं। सतत यह कामना, कामना की पूर्ति के लिए योजना और योजना के लिए साधना चाहिए। दण्ड पर ध्वज फहराने वाली डोर यही साधना ही तो है। साधना की डोर बिना ध्वज फहर कैसे सकता है। चलें हम इस साधना में जुटें। साधना चलती रही तो फहरता रहेगा तिरंगा।

सम्हल, तिरंगे पर घात है। कहीं पीली, कहीं लाल, कहीं नीली अँगुलियाँ बढ़ती आ रही हैं। वह देख, उँगली शैतान की ऊपर उसी तिरंगे की ओर उठ रही है। समझ और परख, दण्ड के ठीक नीचे बैठ, साधना की डोर को पकड़ कौन पिशाच झटका दे रहा है। भूल मत आँगन में तेरे, झण्डे का उतारने वाले बैठे हैं। इन्हें अच्छा नहीं लगता तिरंगा। इनका परचम और है, इनका निशान और है। उसी के मुरीद हैं ये, उसी के लिए कमिटिड हैं ये। इन्हें पहचानो। सो गये तो सब कुछ चला जायेगा, खो गये तो कुछ भी न रहेगा। इसलिए सावधान, अपनी धरती पर अपने 'स्व' की साधना में जुटो। शत्रुओं को जानो, पहचानो और उन्हें कर दो सदैव के लिए दूर।

तिरंगा, हमारे लिए, चिह्न नहीं है। तिरंगा हमारे लिए कपड़ा नहीं है। तिरंगा हमारे लिए देश की पहचान नहीं है। तिरंगा तो हमारे अस्तित्व की धड़कन है, राष्ट्र का जीवन है, समाज का चैतन्य है, स्वाभिमान का स्वरूप है, 'स्व' की फहरती पताका है। इसे झुकने नहीं देंगे। हाथ इधर उठा तो हाथ नहीं होगा, आँख इधर उठी तो आँख नहीं होगी। समर्पण और बलिदान की परम्परा इसे मुक्त गगन में फहराती ही रहेगी। ध्वज फहरना ही रहेगा। तिरंगा फहरता ही रहेगा।



यह पुण्य प्रवाह हमारा

हम स्थिर नहीं गतिवान है। किसी तप्त मरुस्थल मे आकाश से टपक पड़ने वाली जल की बूंद नहीं, जो क्षण भर चली और तपन की गोद में विलीन हो गयी। अपने लिये छटपटायी और खो गयी। किसी पोखर का जल भी नहीं हैं हम, जो कगारो मे बँधा, थमा और सीमाओ की कारा मे सिमटा सडाँध दे बैठा। किसी गगन चुम्बी ऊँचाई पर पडी श्वेत धवल हिमराशि भी नहीं जो अपनी उच्चता और धव लता पर इठलाई तो परन्तु किसी के हित दो चरण भी न चली। बनकर रह गयी चट्टान। अदृश्य और अजान। हम तो हैं, धरा के आँगन मे कल-कल कर बहने वाली अनादि काल से चलती चली आयी, धारा के सनातन प्रवाह। चलते आये हैं, चल रहे है, चलते चले जायेंगे। प्रवाह प्रवाह ही रहेगा। न बँधेगा न रुकेगा, न कहीं जायेगा खो। अपनी दिशा, अपना पथ और अपना ही शाश्वत स्वरुप।

प्रवाह व्यर्थ नहीं। अपने स्वरूप को साधा। अपनी प्रकृति को बाँधा। चैतन्य को आकार दिया। जीवन बन चला। जिसके संस्पर्श को पा कण-कण जीवन से थिरक उठा। वह भी गतिवान बना। प्रवाह मे पडा और बन गया प्रवाह। न रही जडता और न रह गया विकार। शुद्ध समुज्ज्वल पवित्र प्रवाह की धारा। बिन्दु बिन्दु इसका पावन, बिन्दु-बिन्दु इसका कल्याणप्रद। जिसने भी देखा वह धन्य बना जिसने भी संस्पर्श किया वह कृतकृत्य हो गया और जिसने आचमन कर लिया वह तो स्वयं को भूल प्रवाह के आनन्द मे रम गया, हो गया प्रवाह का। मात्र अपने लिये नहीं, प्रवाह का अस्तित्व। समग्रता के हित के लिए चला है यह पुण्य प्रवाह। कर्त्तव्य की डगर पर है, वह। कैसा स्वार्थ और कैसी सकीर्णता। सबके लिए, पावन गंगा का प्रवाह है, वह।

हो भी क्यो न? किसी अभाव की कोख से उसने जन्म तो नहीं पाया। भूख और प्यास की छटपटाती पीडा से उसने जीवन नहीं लिया। रक्त के लिए झपटने हिंस्र भेड़ियो से उसे जिन्दगी नहीं मिली। अधूरे, बिगडे और लंगडे अस्तित्वो से उसने प्राण नहीं पाये। उसका जन्म तो धरा की पूर्ण और पवित्र पुत्री भारत की कोख से हुआ है। जिस धरा मे सम्पूर्णता वास करती है, जिस धरा के कण-कण मे पवित्रता निवास करती है और जिस धरा मे स्वयं आ परम शक्ति नर से नारायण का विकास करती है।

यह धरा है हिन्दुस्तान। इंग्लैण्ड की तरह कटी-फटी नहीं। जापान की तरह टुकड़े टुकड़े नहीं। अमेरिका की तरह सिरविहीन नहीं। रूस की तरह आधी इधर और आधी उधर नहीं। यह तो है अपने में एक और वह भी संतुलित आकार का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप। हिमाद्रि इसका शीश है और कन्याकुमारी इसके चरण; अवध है इसका हृदय और विन्ध्य इसकी कटि, पश्चिमी और पूर्वी घाट हैं जंघाएँ तो पंजाब और असम इसकी भुजा; कश्मीर का केसर है जिसका तिलक और लहराती धवल गंग यमुन हैं ग्रीवा में पड़ी सुन्दर माला, हरीतिमा है साड़ी तो लहरों से खुन-खुन बजत लंका के नूपुर, मलय जिस पर डुलाता है सतत विजन और सुनाता है कलरव गान, पक्षियों का गगन में उड़ता आनन्दमग्न अपार समूह। कैसा दिव्य है स्वरूप। धरती के वक्ष-स्थल पर, सागर की लहरों में उभरता हुआ, गगन को चूमने वाला माँ भारत का प्रकाश बिखेरता विराट् रूप।

विराट् तो है, पर बिखरा नहीं। है एक। सागर हिमाद्रि के चरणों में नत होता है। मेघ बन उड़ता है तो समग्र काया को प्यार से छूता मचलता, बरसता, हिमाद्रि को पूर्व से पश्चिम तक दुलराता चला जाता है और हिमाद्रि गद्गद हो जो प्रेमाश्रु बहाता है वो सागर की गोद में जाकर ही थमता है। सागर का जल, मेघ के घट हिमाद्रि पहुँचाते हैं और हिमाद्रि का धवल हिम, गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र सागर में ला डालती है। पश्चिम के चक्रवात पंजाब की हवा असम ले जाते हैं तो मानसून, असम की गंध पंजाब ला पटकती है। कण-कण भारत का सुगठ इकाई का अंग है। पर्वत और सागर, पठार और मैदान, नदी और पोखर, वन और रेगिस्तान सब मिलकर इस इकाई को रचते हैं, इकाई का स्वरूप ही इसका जन-जन में एक का भाव भरता है। एकात्म की दिशा देता है।

व्यक्ति के जीवन में यहाँ द्वैत नहीं। अन्दर और बाहर एक। तन और मन एक। जो सोचता है, वह कहता है। जो कहता है वह करता है। अध्यात्म के क्षेत्र में तो मन, वचन और कर्म की एकरूपता अनिवार्य है ही, लौकिक क्षेत्र में भी यही है पूज्य। विदेश की धरती दोहरे जीवन को लेकर बढ़ी है। यहाँ तो व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के दो अलग-अलग रूप कभी न हुए। राम रहे हों या हो गांधी जीवन का सदैव रहा एक ही रूप। व्यक्तिगत जीवन में भ्रष्ट, सामाजिक जीवन में कभी भी पूजा न गया। भला लालबहादुर शास्त्री और दीनदयाल का चित्र कभी भुलाया जा सकता है। घर के आँगन से लेकर समाज के सर्वोच्च शिखर तक, वे रहे सदैव एक।

व्यक्ति व्यक्ति से मिलकर समाज नहीं बना। व्यक्ति व्यक्ति बिखरा नहीं खड़ा। समाज तो स्वयम्भू सावयव जीवमान अस्तित्व है, जिसके हम सब स्वाभाविक

घटक हैं। समाज एक है और हैं हम सब उसके अंग। समाज इकाइयों का समन्वय या संघ नहीं, वह तो समस्त अंगों में सजा एक विराट् अस्तित्व है। एक इकाई है। जन-जन उसका प्रकट अस्तित्व है। सब में एक ही चेतना है, एक ही स्पन्दन है और है एक ही भाव। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, कच्छ से लेकर कामरूप तक, एक ही बोध गूँजता है, एक ही निष्ठा रमती है। राजनीति की रेखाओं से बने घरौंदे कितने उभरे और कितने मिटे, कितने राजा आये और गये, मतों और पन्थों के कितने चक्र चले और थमे परन्तु भारत की धरती पर बसे भारत के पुत्रवत समाज के जीवन में कभी भी विभाजन की रेखाएँ नहीं बनी। राम घर-घर आराध्य रहे कृष्ण घर-घर पूजित रहे, ओऽम् घर-घर गूँजता रहा।

पुत्रवत् समाज धरा को कभी न भूला। भोग की भूमि मान, कभी वह धरती पर नहीं चला। वन्दे मातरम् कह उसने धरा को पूजा। धरा के लिए वह जिया और धरा के लिए वह मरा। फाँसी का फन्दा चूमा, सीने पर गोली खायी परन्तु माँ की मूर्ति आँखों में सदैव नाचती रही। धरती और धरती की पावन परम्परा, धरती का भूगोल और धरती का इतिहास, जीवन का आधार रहा। भारत का अर्थ ही रहा, भारत की धरती, भारत का समाज और भारत का सतत चलता चला आया जीवन-उसकी संस्कृति। यही तो है राष्ट्र। एक इकाई, जीवत और पूर्ण।

भारतीय समाज ने सब में एक ही सत्ता के दर्शन किये। सीयराम मय सब जग जानी, वह सभी को नमता रहा। आत्मवत् सर्वभूतेषु समझ वह सभी को अपना मानता रहा। तभी तो किसी भी समाज और किसी भी मजहब या रेलीजन को उसने दुत्कारा नहीं। मत रहा, एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। मुसलमानों को लिया ईसाइयों को लिया और कभी नहीं कहा कि उनका मजहब मजहब नहीं या उनका रेलीजन रेलीजन नहीं। इसी एकात्म दर्शन ने, सर्वे भवन्तु सुखिनः का स्वर गुँजाया और विश्व को एक कुटुम्ब की परिधि में बाँध दिया। वसुधैव कुटुम्बकम् जयघोष किसी और का नहीं, हमारा ही है।

प्रकृति के हाथों ने देश की धरती को अनेक टुकड़ों में नहीं रचा, दिया है उसे एक सुगठित इकाई का स्वरूप और इसी इकाई के सुगठित स्वरूप में उपजी है एकत्व की भावना, व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में समष्टि में। सुगठित इकाई है अपने में पूर्ण और समर्थ। विश्व के मानचित्र पर स्थिति देखिये इसकी। भूमध्य रेखा पर चरण धरे, कर्क रेखा को गोद में समेटे, अपने उन्नत शिखर पर ध्रुव का वैभव लिये, विश्व के केन्द्र में यूरोप, एशिया, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका से घिरी गुरु बन सगर्विता खड़ी है, माँ। इसका अपना पर्वत है, इसका अपना सागर है और है इसकी अपनी ही वर्षा, अपनी ही तपन और अपनी ही शीत। बाहर से वर्षा नहीं आती, बाहर से

तपन नहीं बढ़ती और न बाहर से शीत ही घँसती है। नवीनतम चट्टानों में बना विश्व का उच्चतम शिखर यदि इसका अपना है तो प्राचीनतम चट्टानों से पड़ा सह्याद्रि भी इसका अपना है, किसी और का नहीं। विशाल पठार हैं, तो मैदान भी। पोखर है तो नदियाँ भी। ग्लेशियर हैं तो झरने भी। तप्त तवे-सा तपता राजस्थान है तो सतत नहाता वर्षा से, चेरापूँजी भी। वन हैं तो ऊसर भी। केसर की क्यारी है तो काँटों की झाड़ियाँ भी। विश्व सिमटकर, इस धरती में आ बैठा है। ध्रुव हिमाद्रि पर, सूडान सह्याद्रि पर, कांगो बंगाल में तो सहारा राजस्थान पर। कौन-सा कोना है विश्व का, जो इस धरा की गोद में आकर बैठ नहीं गया। आरसी है विश्व की यह। प्रत्येक प्रकार की जलवायु और प्रत्येक प्रकार की वनस्पति, प्रत्येक प्रकार के पशु-पक्षी और प्रत्येक प्रकार की सम्पदा। कौन-सी वस्तु नहीं है इस भारत में। पूर्णता की धरती है यह इसीलिए जीवन विकसित है, पूर्णता का।

रोटी का अभाव होता, तो रूस की तरह रोटी ही भगवान् बनता। पैसे का अभाव होता, तो अमेरिका की तरह पैसा ही प्राण बनता। व्यापार का अभाव होता, तो इंग्लैण्ड की तरह व्यापार ही जीवन होता। राजनीति की चाह होती, तो फ्रांस की तरह राजनीति ही सर्वस्व हो जाती। बीहड़ों, बीरानों और रेगिस्तानों में भटकने वाली भेड़ियों की भूख होती, तो अरब और ईरान की तरह खून से सनी जिन्दगी ही सब-कुछ बन जाती। परन्तु यहाँ तो प्रकृति ने दोनों हाथों उदार बन पूर्णता बिखेरी है। कैसा अभाव ? पूर्णता की धरती ने पुरुष को दिया है जीवन भी, पूर्ण। तन उसका स्वस्थ, मन उसका प्रसन्न, हृदय उसका विशाल, मस्तिष्क उसका प्रखर, आत्मा उसकी सबल और स्वयं के साथ ही समाज का बोध भी उसका सशक्त। पशु के समान केवल पेट लेकर नहीं चला है वह। केवल भौतिक उपलब्धि ही नहीं है सर्वस्व। स्वार्थ का पिटारा नहीं है वह। व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास है उसका लक्ष्य। यह लोक और परलोक दोनों ही साधना है उसे।

अपने लिये ही नहीं जीता, यहाँ का व्यक्ति। परहित सरिस धर्म नहिं भाई के भाव में पगा, वह समाज के चरणों नत होता है। समाज की सेवा में ही वह अपने आराध्य की सेवा पाता है। समाज है भी तो उसी का व्याप। उसका अपनापन फैलता-फैलता समाज की समस्त विस्तार करने वाली रेखाओं को छूता है। अपना घर, अपना गाँव, अपना गाँव बढ़कर अपना क्षेत्र और अपना क्षेत्र बढ़कर अपना देश स्वयं हो हो जाता है। व्यक्ति के विकास के साथ ही, समाज का सम्बन्ध भी व्याप पा जाता है। भारत की प्रकृति ही है बिन्दु से बढ़ते-बढ़ते वर्तुलाकार समष्टि के स्वरूप से लो जाना। यह बोध इसी धरती की पूर्णता की देन है। सकुचन नहीं, प्रस्फुटन है यहाँ का भाव।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही जीवन की पूर्णता के चरण हैं। यह पूर्णता का जीवन, इस धरा की अनुपम देन है, विश्व को। धर्म पर चलते हुए अर्थ का अर्जन करना और अर्थ को आवश्यकतानुसार इच्छाओं की पूर्ति में लगाना तथा योग्य रीति से तुष्टि को प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति मे जुट जाना। धर्म को छोड़ यहाँ पर जीवन नही चला। प्रत्येक पग धर्म के धरातल पर पड़ा है। तभी तो श्रम के पसीने ने अर्थ अर्जित किया है, अन्यथा लूटा हुआ अर्थ अनर्थ ही बन जाता। स्वय के तिल-तिल जलने और कण-कण गलने के परिणामस्वरूप जो मधुरतम अपनी और अपनी ही सम्पत्ति मिली वह ईश्वर को अर्पित कर, प्रसादस्वरूप कामनाओं की तुष्टि के लिए मात्र अल्पांश लेकर, जो सुख की उपलब्धि मिली है, वह कितनी है प्रिय और सुखकर। यही यात्रा तो आगे ले जाकर हमे पहुँचाती है मोक्ष के द्वार। बनाती है नर से नारायण। यही है व्यक्ति निर्माण का सम्पूर्ण ज्ञान। यही है नर से नारायण बनाने का सम्पूर्ण बोध। यह इस सम्पूर्णता की धरती ने, अपने पुत्रों को दिया है। तोड़ना और बिखेरना नही, जोड़ना और मिलाना। विश्लेषण नही संश्लेषण, यहाँ की शैली है। टुकड़े-टुकड़े का ज्ञान और अध्ययन नही, पूर्ण का और पूर्णता की शक्ति का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। हाथ, पैर, नाक, कान का अलग-अलग नहीं, एक बार सम्पूर्ण मानव का ज्ञान चाहिये। हाथ, पैर, नाक, कान का अलग-अलग डॉक्टर नहीं, मनुष्य का डॉक्टर चाहिये। संश्लेषण ही कला है, सश्लेषण ही जीवन है।

सम्पूर्णता की इकाई, भारत बौनेपन की रेखाओं मे नही बँधा। विराट् बना है, वह सहस्रो मील लम्बा, सहस्रो मील चौड़ा और वह भी सुन्दरतम आकृति के स्वरूप मे। न पतली चलती चली गयी पट्टी और न विभिन्न कोणों को लेकर फैलने वाली अशोभन आकृति। वह तो उभरी है बनकर सुन्दरता का नया स्वरूप। विराटता जिसकी शक्ति है और सुन्दरता जिसका गुण। यही विराटता तो इसके पुत्र में समा गयी है। फिर भला वह क्षुद्र कैसे हो सकता है। उसका हृदय विशाल होगा ही, उसका चिन्तन समष्टि का चिन्तन होगा ही, उसका दर्शन समग्रता का दर्शन होगा ही। प्रार्थना करेगा भी तो अपने लिये नहीं। बरबस कह उठेगा विश्व का कल्याण हो, प्राणियो में सद्भावना हो। सर्वत्र शान्ति चाहेगा, शान्ति। इसीलिए तो आया है, वह। विश्व को पथ पर लाना और धर्म का पाठ पढ़ाना, उसका दायित्व है।

सम्पन्नता बरसती है इस धरती पर। प्रकृति ने सम्पन्नता देने में कोई कमी नहीं की। धरती सोना उगलती है। वक्ष फाड़ अपना, पुत्रो की झोली में सम्पदा

भर देती है। फल है, अन्न है, वस्त्र है, साधन है, शृंगार है—बस सब-कुछ तो है इसकी गोद में, जीवन चले इसीलिए चाहिये मात्र भोजन और वस्त्र, शेष तो समष्टि का पालन है। फिर कैसी कमी और कैसी पीड़ा? देना-ही-देना है। दान ही वृत्ति बनी है यहाँ की। तेरा तुझको अर्पण कह, सब-कुछ समाज को समर्पित है। विश्व का भरण-पोषण यह धरती करती रही। तभी तो बनी है भारत। विश्व भरण पोषण कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई। सोने की चिड़िया, भले आज दूसरों के आँगन में, टुकड़ों के लिए, निहारे, परन्तु रही है और है आज भी सम्पन्नता की शक्ति। दानवृत्ति इसी का परिणाम है।

सम्पन्नता विभिन्नता में भरी है। ईराक नहीं, जहाँ केवल तेल है। मलाया नहीं जहाँ केवल रबड़ है। यह तो भारत है, जहाँ सृष्टि की हर पूँजी बिखरी है। यही तो इसका सौन्दर्य है और है वह भी व्यवस्थित। इस विभिन्नता को समेटने और जोड़ने का कार्य प्रकृति करती है तो प्रकृति के पालने में पलने वाला भारत का पुत्र भी इससे भागता नहीं। वह समन्वय कर सबको जुटाता है। समन्वय बन गया है यहाँ के समाज का स्वभाव। सबको साथ लेकर चलने का, सदैव से रहा है, यहाँ का भाव। तभी तो व्यक्ति-व्यक्ति बिखरे नहीं, परिवार बन चले हैं, गाँव बन चले हैं और समाज बन पले हैं। आज भी कश्मीर का वासी, कन्याकुमारी के निवासी से जुड़ा है। विघटन की प्रक्रिया तो पश्चिम की देन है, जो परिवार तोड़ती है, व्यक्ति तोड़ती है। समन्वय की धारा यहाँ तो सबको जोड़ती हुई बहा है।

प्रकृति की फैली हुई इस विशाल पुस्तक ने ज्ञान के समस्त रहस्य, भारत के सामने खोलकर रख दिये हैं। भौतिक ज्ञान की ऊँचाइयाँ हमने प्राप्त की हैं तो आध्यात्मिक ज्ञान की सर्वोच्च चोटियों को भी हमने अपने हाथों में पाया है। प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति और प्रत्येक प्रकार का अवसर प्रस्तुत कर, व्यक्ति को, प्रकृति ने, ज्ञान के चक्षु खोलने का काम सम्हाला है। कोई भी दिशा अछूती नहीं, कोई भी पक्ष अनदेखा नहीं रहा। इसीलिए तो यहाँ का ज्ञान, सम्पूर्णता का ज्ञान बना। यहाँ का पथ, विश्व का पथ बना। यहाँ का बोध मानव-धर्म बना। इस पर चला विश्व का कल्याण है, भगा दूर इससे तो विनाश है।

सतत दौड़ती हुई नदियों ने, झर-झर झरते हुए झरनों ने, आकाश की ओर उफनती और उठती हुई जल-राशियों ने, कुलाँचें भरते हुए हिरनों ने, आकाश चीरते पक्षियों ने कौन-सी प्रेरणा दी है, यहाँ के व्यक्ति को। यही तो न कि चलते रहो, चलते रहो। चरैवेति चरैवेति। कर्म का यह पाठ, प्रकृति ने भली प्रकार पुरुष को पढ़ा दिया। ज्ञान दे उसे, कर्म पर जुटा दिया। उसे उसका दायित्व बता दिया। धर्म

की धरती यह, कर्म की धरती बनी । सम्पूर्णता की धरती से धर्म नहीं फूटे तो क्या अभावों की धरती से निकलेगा । धर्म, कर्म का पाठ नहीं देगा, तो क्या अधम का कोख से कर्म की शिक्षा बहेगी । यह जीवन कर्म की गंगा है। करते-करते समर्पित हित, तपते-तपते ही, स्वर्ण बन जाना है । यही इस धरती ने दिया है और धरती के पुत्रों ने जिया है ।

कर्म अहं की चोटियों पर जाकर नहीं बैठ गया । वह तो राम का पावन प्रसाद बन, गाँव-गाँव, गली-गली, चला है । कर्म का सम्पूर्णत्व प्रकाश है यदि राम के आचरण में, तो यहाँ का जन-जन उस आचरण से अछूता नहीं रहा । भावना वही रही है । गांधी का आचरण, कर्म की शील-सनी गंगा है, तो दीनदयाल का जीवन कर्म की शील-पगी सरस्वती । सर्वत्र जुड़ा है शील, कर्म की भावना से । ज्ञान, कर्म और शील की पावन त्रिवेणी, इस धरती पर बही है । उसे लेकर, यहाँ का व्यक्ति आगे बढ़ा है । यात्रा उसकी वर्तमान में ही रुकी नहीं, अतीत में चलती चली आयी, अदृश्य भविष्य की गहराइयों में पहुँच रही है । पुनर्जन्म में उसका पूर्ण विश्वास है ।

माँ भारत की गोद में जन्मते और उसकी गोद में पलते, भारत के समाज ने, भारत माँ की चेतना अपने में पाली है । सब में वह विद्यमान है । साकार हो, आचरण में अपने पुत्रों के वह बोल उठी है । कण-कण मुखरित है कर्म में । क्षण-क्षण ध्वनित है जीवन में । कुछ भी तो नहीं है ऐसा जो माँ ने अपने पुत्रों को नहीं दे रखा है । यह एकात्म, यह पूर्णता का चिन्तन, यह विशालता का दर्शन, यह दान का भाव, यह ज्ञान, कर्म, शील और समन्वय का जीवन सभी कुछ तो भर दिया है अपने पुत्रों में । क्षण भर में नहीं हो गया है यह । सतत संघात के परिणामस्वरूप, जो सहस्रों वर्ष से चलता चला आया यह जीवन-दर्शन मातृ-भूमि में प्राप्त किया है समाज ने । एक जीवन की अपूर्व और अनूठी, परन्तु पूर्ण शैली उपलब्ध की है उसने, जो लहराती हुई समाज के घटक-घटक में बहती है ।

यों तो सम्पूर्ण जीवन का प्रवाह ही कल्याणप्रद है और है पावन, परन्तु वह स्थल और भी पावन बन गया है जहाँ पर जीवन-शैली अपनी समग्रता में, आचरण में उतर आयी है। अनादि काल से चलते चले आये इस प्रवाह के वह स्थल जहाँ राम, जहाँ कृष्ण, जहाँ गौतम, जहाँ गांधी आचरण के साकार स्वरूप बन प्रकटे हैं, भला कैसे भुलाये जा सकते हैं ? गंगा का जल सर्वत्र पवित्र है और है गुणों से भरा पर हरद्वार और प्रयाग का स्वरूप ही कुछ और है । कल-कल करते, बहते इस समाज के प्रवाह से ही यह पूज्य अस्तित्व उभरे हैं, जिनके चरणों में हम नत हैं और जिसके प्रकाश में हम अपना पथ पाते हैं । राम और कृष्ण, गौतम और गांधी के



साथ-साथ ही हम अपने प्रवाह को भी भूलते नहीं, उसका वन्दन करते हैं। और रखते हैं सदैव उसका स्मरण।

प्रवाह ही न रहा तो हम कहाँ होंगे ? इसलिए इस प्रवाह का रक्षण और सम्वर्द्धन तो चलता ही है। अभी तक किसी के रोके यह रुका नहीं। आक्रमण की आँधियाँ आयीं, संकटों के बादल गरजे और बरसे, राजनीति पैनी चालें चलीं, मजहब और रेलीजन के विषैले तीर चले परन्तु वाह रे प्रवाह, कभी अवरुद्ध न हुआ। हो भी कैसे। पुरुष ने नहीं प्रकृति ने चलाया है इसे। रोम गया, मिस्र मिटा, यूनान न रहा परन्तु भारत का पुण्य प्रवाह चलता है, चलेगा। कभी शक आये, तो कभी हूण, परन्तु गंगा के पावन प्रवाह में मिल प्रवाह के अंग बन गये। मुसलमान आये, अंग्रेज आये सत्ता पर बैठे परन्तु समाज पर कभी बैठ न सके। सत्ता हारी, समाज कभी न हारा। सूर, जीने की ललक ले, समाज में आया तो तुलसी जीने की कला दे समाज को संजीवनी दे गया। राणा संकल्प ले उतरा तो शिवा कौशल दे, समाज में शक्ति भर गया। बन्दा बलिदान सिखा गया तो बच्चे गुरु गोविन्द सिंह के दीवारों में चुनकर, इस प्रवाह के लिए जीवन का अर्थ बता गये। कितना ही बांधा, पर प्रवाह न रुका। अनेक नेतृ लाशें गिरीं, मन्दिर टूटे, महल लुटे, सिंहासन छिने, सम्मान गया, सब-कुछ लुटा, पर प्रवाह न रुका, न रुका। चल रहा है, चलता रहेगा।

प्रवाह धरती के कोने-कोने में चल रहा है। प्रत्येक पक्ष में, जीवन के, पल रहा है। साहित्य हो या संगीत, भक्ति हो या हो दैनिक आचरण, उद्योग हो या हो युद्ध, सर्वत्र यह लहर प्रवाह की फैली है। साहित्य की पंक्ति-पंक्ति इस प्रवाह के सुर में बोलती है। सूर हो, तुलसी हो, मीराँ हो, केशव हो, बिहारी हो या हो आज के निराला, महादेवी और दिनकर, सब यही तो गाते हैं। संगीत आनंद तो भरता ही है पर शैली की छाप बिना छोड़े कहाँ रहता। पश्चिम की उच्छृंखलता, उन्मुक्तता और पशुता इसमें कैसे बैठ सकती है ? भक्ति की तो हर डगर और हर आँगन ही इस भारतीय प्रवाह के सुरक्षित है। रामभक्त का मन्दिर हो, या कृष्णभक्त का आँगन, शंकर का शिवालय हो या कबीर का मठ, जैन का मन्दिर हो या बुद्ध का विहार—सभी स्थलों पर निर्माण के स्वर हैं। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक आस्था और विश्वास के ही चरण हैं। उठते ही माँ की धरती के चरण छू भक्त माँ का गा उठता है—समुद्र वसने देवी, पर्वतस्तन मण्डले, विष्णु पत्नी नमस्तुभ्यम्, पाद-स्पर्श क्षमस्व मे। रात्रि को भगवान् का स्मरण करता हुआ जाता है निद्रा की गोद में। उद्योग चलते हैं, परन्तु पथ है अपना। यहाँ वही बनता है, वही ढलता है, जो मानव-हित में है। दृष्टि वही रहती है अपनी समाज-हित की। यदि ऐसा नहीं—

तो समाज धिक्कारता है। युद्ध जब होता है, तो धर्म की कसौटी पर। राम का काल तो था ही आदर्श, जहाँ राम-सा शत्रु मिला रावण को। मृत्यु पाकर भी रावण धन्य हो गया। कृष्ण का काल भी धर्म की भूमि पर लड़े जाने वाले युद्ध का काल रहा। परन्तु वर्तमान मे भी दिशा नही बदली। जीवन की दृष्टि हर क्षेत्र मे उभरती है।

समय के परिवर्तनो ने प्रवाह को माँजा तो है, परन्तु बदला नहीं। मूल सदा बना रहा। यह तो अन्तर का विकास है, अन्तश्चेतना है जो सब में सवत्र समायी है। तभी तो समाजवाद का गान करने वाले, विदेश की धरती से दिशा लेने वाले पंडित नेहरू कभी भी अपनी धरती और अपनी दिशा को भूल न सके गीता उनका साथी रहा और मरते समय माँ गंगा को भूल न सके। वह गंगा की कोख से जन्मे और गंगा की गोद मे विलीन हो गये। ऊँचे स्वर मे समाजवाद का स्वर अलापने वाले राजनारायण, मंत्री बनते ही हनुमान् बन गये। हनुमान् चालीसा चिकित्सालय-चिकित्सालय पढवा दिया। विदेश की धरती पर नृत्य का निमन्त्रण पाते ही, श्रीमती इन्दिरा प्रदर्शन के लिए इन्कार कर बैठी, यह कह कि भारतीय संस्कृति नहीं है यह। विदेश के चिन्तन और विदेश के जीवन का लबादा लाद लेने से, कही अपने जीवन की तरंग समाप्त हो सकती है। नही ! नहीं!! कभी नही !!! हाँ, विकृति अवश्य ला सकती है, अपना प्रवाह अवश्य धीमा कर सकती है। इसलिए चलें, बहे हम अपने पुण्य प्रवाह मे, अमर प्रवाह मे, सनातन प्रवाह मे और दें सभी को जीवन का अमर सन्देश। चलता रहे पुण्य प्रवाह हमारा।

□

कर्म की भागीरथी

भागीरथी बहती है, बहती आयी है और बहती रहेगी। कल-कल करते मचलते-कूदते इसके जलबिन्दु, पाषाणों की छाती पर खेलते उसे रौंदते और तोड़ते, मैदानों की खुली गोद में अँगड़ाइयाँ लेते, बढ़ते चले जाते हैं, विराट् सागर में विलीन होने। न रुके हैं और न रुकेंगे। गये तो गये। परन्तु प्रवाह नहीं गया, वेग नहीं गया, प्रभाव नहीं गया। वही है धारा, वही है सातत्य और वही है उसका कल्याणकारी स्वरूप। कर्म की डगर पर चले चरण किसी के थामे न थमे। इसी कर्म ने तो बिन्दु-बिन्दु को पावन बना दिया, पूज्य बना दिया। श्रद्धा भावना से सिक्त स्वरूप भागीरथी का, इसी प्रवाह के हाथों ही तो बना और सँवरा है। जिसके दर्शन, मज्जन और पान की तो बात ही क्या, मात्र स्मरण ही मन से समस्त कलुष धो डालता है। हो भी क्यों न। बिन्दु-बिन्दु जो भागीरथी का, सर्वत्र और सदैव, श्री भागीरथी के गुणों से भरा है जो। हरद्वार का जल हो या हो प्रयाग का, पाटलिपुत्र का जल हो या हो गंगा-सागर का, गंगाजल है, भागीरथी का जल है। कमण्डलु में रखा हो या लोटे में, गिलास में रखा हो या बाल्टी में, वह पवित्र गंगाजल ही है। उसमें वही गुण है, वही स्वभाव है, वही जीवन है।

प्रवाह के पथ पर उमड़े जल का जीवन स्वयं तो सार्थक हुआ ही, समष्टि सागर में स्वयं को, कर्म की साधना करते-करते विलीन कर, स्वयं तो धन्य हुआ ही अपने पवित्र आचरण का दर्शन करा समाज को भी धन्य कर दिया। अहित किसी का नहीं, बस हित-ही-हित सबका, यही तो आचरण रहा है उसका। अपना स्वभाव ले, अपने पथ पर, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना, बढ़ते जाना कहीं रुकना नहीं, थमना नहीं और अपने लक्ष्य में जा विलीन हो जाना। कैसा संकल्प और कैसी साधना। यही तो जीवन है। रुकने का नाम जीवन नहीं, बैठने का नाम जीवन नहीं, रोने और निराश होने का नाम जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है।

भारत की भूमि कर्म की भूमि है, धर्म की भूमि है। इसके जीवन का प्रवाह, भागीरथी का पुण्य प्रवाह है। सबका हित भागीरथी की भावना है, तो सबका कल्याण भारत की साधना है। भारत की साधना का पग-पग धर्म के धरातल पर टिका है। यहाँ कर्म का कोई हाथ, धर्म की ध्वजा बिना, उठा नहीं। यही पावन

कर्म का हाथ है, जिसने दशरथ के पुत्र राम को भगवान् राम बना दिया, यही पवित्र कर्म का हाथ है जिसने अँधेरे में जन्मे कन्हैया को प्रकाश का प्रखर पुंज बना भगवान् कृष्ण बना दिया, यही तो पूत कर्म का हाथ है जिसने सामान्य-से बालक नरेन्द्र को विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द बना दिया और यही तो पुण्य कर्म का हाथ है, जिसने सामान्य बुद्धि वाले मोहनदास को महात्मा गांधी और बापू बना दिया । बस कर्म चले, धर्म की डगर पर ।

धर्म की डगर से हटे, तो धारणा कैसी ? धारणा हो, इसलिए स्वधर्म चाहिये । पुरुष हो, पशु की चाल चले, फिर कल्याण कहाँ ? 'स्व' को भुला पर की साधना चले, फिर खैर कहाँ ? 'स्व' चाहिये । माँ भारत का पुत्र, माँ भारत के गुणों से युक्त चाहिये, गंगा का जल, माँ गंगा के गुणों से युक्त चाहिये । जिसमें भारत का स्वत्व नहीं, वह भारत का पुत्र कहाँ ? जिसमें गंगा के गुण नहीं, वह गंगाजल कहाँ ? कर्म पर चले चरण का स्वत्व चाहिये । भारत का चरण है तो सह्याद्रि की अडिगता और हिमाद्रि की उच्चता चाहिये, गंगा की पवित्रता और नर्मदा की धवलता चाहिये, मलय की गंध और कश्मीर की सुन्दरता चाहिये, बंग की बुद्धि और अवध की कर्मण्यता चाहिये, चाहिये उसमें बसा भारत की धरती का कण-कण, चाहिये उसमें सजा भारत के इतिहास का क्षण-क्षण और चाहिये उसमें रमा राष्ट्र चैतन्य का प्रति चरण । लगे वह भारत का लाल है, लगे वह भारत की आत्मा का स्पन्दन है, लगे वह देश का भव्य रूप है । निश्चय ही तब उसका पथ, लेनिन और लिंकन का पथ नहीं, राम का पथ होगा, कृष्ण का पथ होगा, गांधी का पथ होगा ।

राम राष्ट्र का चैतन्य ले प्रकटे, तभी तो वन्द्य बने । राष्ट्र की एकता, राष्ट्र की अखण्डता, राष्ट्र की सम्पन्नता, राष्ट्र की भव्यता, उनके कर्म के प्रत्येक क्षण में, पवित्र संकल्प बन उभरी । संकल्प, उनके आचरण से पूर्ण हुआ । बना भारत अखण्ड और एक, सम्पन्न और नेक । कृष्ण की काया में, सारे भारत की, दिव्य संदेश बन बोल उठी । बन गयी कर्म की चिरन्तन गाथा । वही पावन गिरा-गीता ले गांधी चला, तो धरा का सम्पूर्ण 'स्व' ही उसमें थिरक उठा । गीता, गायत्री, गंगा और गौ उनके जीवन के आधार बने । कर्म, ज्ञान, समन्वय और शील उनसे कभी दूर न हुए । यही तो है राष्ट्र की चेतना । इसी चेतना ही के तो हैं, हम सभी प्रकट अंश । कर्म पथ बढ़ें परन्तु इस चेतना को लेकर । इस चेतना के बनकर, इस चेतना के होकर ।

चेतना सो जाय, तो गति कैसी, प्रगति कैसी ? धारा से अलग हो जल का जीवन कैसा ? भले ही क्यों न गंगा जल हो । गंगाजली में रखा गंगा जल है, गंगा जल और है पावन, परन्तु गंगा का कर्म कहाँ ? वह चट्टानों को तोड़, पावन

को बहा, थपेड़ों में काट-छाँट शंकर की बटिया बना, उन्हें पूज्य बनाने का धर्म कहाँ ? चट्टानों की छाती फाड़ घाटियाँ बना, मैदानों की छाती पर बिहर हरियाली बिछा और तटों पर हहरते हुए जलधि से उर मिला, आनन्द की अनुभूति का फिर मर्म कहाँ ? हिमाद्रि को सिन्धु से मिलाने, तपती धरा की प्यास बुझाने, धरा के पुत्रों को जीवन लुटाने, उन्हें उबारने और तारने का सुख और संतोष फिर कहाँ ? इसलिए गंगाजली में नहीं, गंगा में जल चाहिये, जल में धार चाहिये, धार में कर्म चाहिये, मर्म चाहिये और चाहिये, वह साधना जो उसे पावन बना सके, पूज्य बना सके ।

निष्क्रियता कभी पूज्य नहीं । कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो चेतना, निष्क्रिय रही, तो निष्फल । सामर्थ्य का अर्थ ही क्या, यदि प्रयुक्त न हुई । विद्वत्ता का लाभ ही क्या, यदि काम न आयी । सक्रियता चाहिये स्वभाव के अनुकूल । सिंह में गीदड़ की सक्रियता, हंस में कौए की सक्रियता, पुरुष में पशु की सक्रियता, न शोभित है और न है उचित । यह विकृति है और है विनाश की वाहिका । व्यक्ति है तो काया अपना कार्य करे, मस्तिष्क अपना काम करे, हृदय अपने ढंग पर चले, मन अपने पथ पर बढ़े, आत्मा अपनी यात्रा समझे और समाज के प्रतिनिधि तथा घटक के नाते व्यक्ति की यह इकाई समाज को साधे और जिये । इसलिए चाहिये काया में शक्ति, मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में शील, मन में संकल्प और आत्मा में बल । चलें, परन्तु समाज को साथ लेकर । मन से, तन से, जीवन में । समाज-हित चिन्तन रहे, समाज के लोग साथ रहें और यह जीवन समाज-हित समर्पण से भरा रहे ।

समाज का कोना-कोना सम्पर्क की परिधि में समा जाय । पर्वतों की कन्दराओं से लेकर वन बीहड़ों की अगम्य दूरियों तक सम्पर्क की स्नेहिल छाँह मिले । समान रूप से सब पर शील बरसता चला जाय । नगर-नगर, गाँव-गाँव, सम्पर्क सूत्र में बँधता चला जाय । जो मिले, जैसा मिले, साथ ले चलें । प्रवाह में अपने बाँधें, माँजें, सँवारें । कंकर से शंकर करें । संस्कार का अबाधित प्रवाह चलता रहे, चलता रहे और कंकर भी पावन प्रवाह का अंग बन बह चले । संस्कार की गोद में आते ही, समस्त कलुष धुल जाय, विकृति विनष्ट हो जाय और बन जाय संस्कार प्रवाहिनी धारा का अभिन्न अंग । गंगा में कितने नाले मिले, नदियाँ मिलीं, पर बने सब पावन गंगा । यह है सामर्थ्य संस्कार प्रवाहिनी भागीरथी का । सम्पर्क में आया और संस्कार की छाँह मिली । साथ चला और बन गया अंग अपना । यही है पथ, यही है दृष्टि और यही है लक्ष्य ।

कर्म के प्रवाह में बहते-बहते स्वयं तो समर्थ बनता ही है, साथ में बहने वालों को भी समर्थ करता है । सतत मंथन की प्रक्रिया कितनी सक्षम है और है

कितनी पावन । कोई त्रुटि नहीं, कोई दोष नहीं, कोई कमी नहीं । इस प्रक्रिया म पलते और ढलते, बन जाता है एक दिन, वह रूप, जिसका मात्र स्मरण ही समाज मे संस्कार की धारा बहा देता है । राम के चरित्र का स्मरण, यह वेगवती धारा का प्रवाह नही तो और क्या है ? पंथ और मत, मजहब और रेलीजन, वग और जाति सब दूर, दौड जा रहे है भगवान् राम के दर्शन करने, उनके पावन चरित्र को देखने । क्यो उमडती है यह श्रद्धा ? क्यो उमडती है यह भक्ति ? समाज हित समर्पित मानव-विकास के सर्वोच्च शिखर हैं जो न ! कर्म की डगर का यही गन्तव्य है ।

आचरण के चरण चलते-चलते, चिन्तन को सगुण स्वरूप मे ढाल देते है भारत का पवित्र और पूर्ण चिन्तन राम बन सामने थिरक उठता है । कैसा हो बचपन, कैसी हो जवानी, कैसा हो बुढापा, सोचने की आवश्यकता नही, सामने राम का आदर्श जो है न । कर्म के क्षेत्र का कोना-कोना, जीवन मे उतर आया है कुछ भी तो छूटा नही । चिन्तन, आचरण में उतरा, आचरण आदर्श बना, आदर्श को मिला पूर्ण समर्थन और समर्थन सफलता को चरणो मे ला डालने में बना समर्थ। व्यर्थ है वह चिन्तन, जिसे आचरण के चरण न मिलें, व्यर्थ है वह आचरण जो आदर्श की ऊँचाइयाँ न छुए, व्यर्थ है वह आदर्श जिसे देख समर्थन न उमड पड़े और व्यर्थ है वह समर्थन जो सफलता को चरणो मे लाकर न डाल दे । कर्म पर निकले चरण को रुकना नही, थमना नही, बढते रहना है जब तक कि प्राप्तव्य स्वय नहीं आ जाता । कर्म की धारा का घटक होने से लेकर, सामर्थ्य के पूर्ण विकास को प्राप्त कर, अधिकारी स्थिति तक, बढते ही रहना है ।

धारा के घटक बन, उसके समस्त लक्षणो को अपने मे ले, जब हम निकलते हैं, सहज ही सदस्य बन जाते हैं उस धारा के । धारा का बोध हमसे प्रकट होता है । परन्तु धारा के वेग का स्वरूप जब हममे नर्तन कर उठता है, कर कर्म में लीन हो जाते हैं, चरण पथ पर बढ जाते हैं, मस्तिष्क चिन्तन मे रत हो जाता है, हृदय आनन्द ले निकल पडता है और संकल्प ध्येय को पकडने के लिए मचल उठता है, तब कार्य का रूप सामने साकार होता है । कार्यकर्त्ता होते हैं हम । ज्ञान साथ चलता है, शक्ति पग-पग पर बढती है, शील प्रतिक्षण उमडता है, संकल्प दृढ होता है और संगठन बनता है सफलता का वाहक । कर्म की डगर पर चलते-चलते विकास की उन ऊँचाइयो पर पहुँच जाते है हम, जिन्हे देखकर ही सामान्य जन प्रेरणा से भर उठते हैं । इन्हीं ऊँचाइयो पर विराजमान है विवेकानन्द, इन्ही ऊँचाइयों पर आसीन हैं गाधी, इन्ही ऊँचाइयो पर बैठे हैं डॉ० हेडगेवार, इन्ही ऊँचाइयों पर स्थित हैं गोलवलकर और इन्ही ऊँचाइयों पर पहुँचे हैं दीनदयाल । यही है अधिकारी स्थिति ।

कर्म की भागीरथी प्रदूषित हो गयी है, आज। भागीरथी में अपने अस्तित्व को समर्पित कर, कर्म के पावन प्रवाह में बहने की बात आज कहाँ? 'स्व' को समष्टि में विलीन कर, अहं से वय बनने की कामना अब कहाँ? पाषाणों को भी अपने स्नेह-भरे संघातों से रगड़ शंकर बना डालने की भावना अब कहाँ? अब तो है बस, भागीरथी का अंग स्वयं को घोषित कर, स्वार्थ की ऊँची-से-ऊँची चोटी पर जा बैठने की होड़। है केवल समष्टि के नाम पर, समष्टि का दोहन और शोषण कर अहं की चरम संतुष्टि। चल रही है अब समाज को संस्कार देने के नाम पर, स्वयं को विकार से भर देने की वृत्ति। संगठन को सीढ़ी बना, ऊपर और ऊपर बढ़ते जाना तो सीखा है परन्तु संगठन के लिए, समाज के लिए, समर्पित हो तिल-तिल गलना नहीं। तभी भागीरथी का प्रवाह थम रहा है, वैशिष्ट्य खो रहा है, सामर्थ्य क्षीण हो रहा है और पावित्र्य हो रहा है लुप्त।

स्वार्थ और भोग के घिनौने घरौंदों से समेटकर, प्रवाह को अपने तटों पर लाना ही होगा। उन तटों पर जहाँ पवित्रता वास करती है, जहाँ सामर्थ्य निवास करती है और जहाँ संस्कार की ध्वनि आज भी गूँजती है। भागीरथी के भक्त, सब छोड़ निकल पड़ें माँ गंगा को उसका प्रवाह और वेग प्रदान करने। कर दें अपने श्रम की पराकाष्ठा, कर दें अपने समर्पण की इति और होम दें अपना सर्वस्व। इतना तीव्र और इतना सशक्त कर दें प्रवाह कि, प्रवाह में पड़ने वाले गन्दे-से-गन्दे नाले भी अपना स्वरूप खो, भागीरथी के प्रवाह बन जायें। स्वार्थ सेवा में ढल जायें, अहं वय में लीन हो जायें, और विकार संस्कार बन चमक उठें।



उत्तर की प्रतीक्षा में तेरी माँ
या
भारत माँ का पत्र अपने बेटे के नाम

मेरे लाल,

आग बरसाते आसमान के तले तप्त तवे-से तपते खेत के बीच बड़े-बड़े ढेलों और चौहारों पर अपना फावड़ा उठाये, रक्त के कण-कण का पसीना बना, माटी को सींचता खड़ा तू, गरजते-गरजते-बरसते काले-काले भयानक बादलों के बीच, धरती पर बने ऊँचे-ऊँचे भवन के कंगूरे पर, छेनी और हथौड़ा लिये, चढ़ा अकेला तू, पाषाणों की छाती को कँपाती, हिमशीतल तूफानी हवाओं के बीच, अपने रक्त और पौरुष की ऊष्मा लिये शत्रुओं के सामने सीना तान सिंह-सा ललकारता डटा तू, प्रातःकाल से आया कर्म की कुर्सी पर कलम लिये, १२ बजे रात्रि तक कागजों पर, आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनाता बैठा तू, आदेशों का पालन करने और पालन कराने के पाटों के बीच फँसा, स्वयं को भूला, यन्त्र बन तन का, सूर्य के साथ निकला तो परन्तु उसके जाने पर गया नहीं, जुटा पड़ा है, समस्याओं के अम्बारों में समाधान खोजता तू, हाथ उठा-उठा कर, अपने मत की मुहर लगा-लगाकर मत-पत्र पर, गाँव के अन्धे गलियारे से, प्रकाश के राजपथ पर बने संसद् भवन में, गंगू और मंगू को, माननीय गंगाराम व माननीय मंगाराम बना बिठाने वाला, फूटे घर और टूटे छप्पर के नीचे सर्दियों में ठिठुरता नंगे बदन, भूखे पेट, खुली आँखें लिये पड़ा तू, लखनऊ और दिल्ली के तख्त पर, देश और समाज को सम्हालता, जन-जन के प्यार-भरे विश्वासों से भीजा गया मेरा स्वतन्त्रता के लिए सीने पर गोली की बौछारें झेलने वाले, फाँसी का फन्दा चूमने वाले, तिल-तिल कर गल जाने वाले, सब-कुछ अपना स्वाहा कर, बस मेरे लिये ही जीने वाले, बेटे का लाडला संतान, मेरे लाल तू !

तू मेरा प्राण है। मेरा जीवन है। मेरी धड़कन है। तेरे बिना मैं कहाँ? तेरे अन्दर ही तो बैठी जी रही हूँ मैं। देख नहीं रहे हो, यह मस्तक तुम्हारा, मेरा हिमालय ही तो है। वही तो उन्नत बन चमक रहा है। फड़कती हुई दायीं और बायीं भुजाएँ तुम्हारी, ये मेरे पंजाब और बंगाल की पौरुष-भरी जवानी ही तो हैं, पर वे

उठे कैसे ? कटी जो है न । धकधक धड़कता हुआ और प्यार से मचलता हुआ, तुम्हारा हृदय, यह अवध ही तो है, जहाँ की सरयू राम के स्नेह, शील और कर्म में पगी तुम्हें जीवन दे रही है, हृदय पर सौभाग्य और सफलता की पड़ी मालाएँ ये गंगा और यमुना की पावन तरंगें ही तो हैं, जो लहरती और झूमती हैं, सिंह-सी कटि तुम्हारी कुछ और नहीं बस मेरा विन्ध्याचल ही तो है जो शक्ति बन उतर गया है और तुम्हारी जंघाएँ, मेरे प्यारे पश्चिमी और पूर्वी घाट के बसे पावन स्वरूप ही तो हैं, चरणों में तेरे रुनझुन नूपुर की ध्वनि करती, सागर की लहरों की गति ही तो है । कण-कण मेरे तन का, तुझमें बैठा है । कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैली मेरी यह काया तुझमें, स्पंदित है, तुझमें जीवित है ।

काया ही नहीं काया का प्राण भी बैठा है, तुझमें । लगता नहीं तुझे, तेरा चैतन्य, कहाँ और किसकी गोद में जाने को मचलता है । गया तो था अमेरिका, घूमा भी था, रमा भी था, देखा था सब वैभव । फिर क्यों विकल हो गया ? क्यों मेरी गोद में जहाज से कूद आ गिरा ? क्यों मचलने लगा 'माँ' 'माँ' मेरा कल्मष धो डाल ? इसीलिए न कि तू मेरा लाल है । मेरे चैतन्य को लेकर चला है तू । ओज, यह बोल, अद्वैतवाद यह एकात्मवाद यह समन्वय, यह शील, यह कर्म, यह ज्ञान, यह ममता, यह समता यह बन्धुत्व किससे सीखा है ? मैंने ही तो, तुझे अपनी कोख से जन्म दे, तुझमें यह चेतना भरी है । मैंने ही तो अपनी गोद में पाल, अपने स्तन से वात्सल्य पगे दूध के साथ तुझे यह शिक्षा दी है । मैंने ही तो अपने हाथों, अपने आँगन में, तुझे तेरे बड़े भाई राम और कृष्ण, राणा और शिवा, गांधी और गौतम अरविन्द और विवेकानन्द के साथ अँगुली पकड़, खिलाते-खिलाते यह जीवन की दृष्टि दी है । बाहर की किताबों से नहीं, मेरी धड़कन से तुझे मिली है, यह समग्रता और सम्पन्नता की शक्ति ।

भूलता क्यों है तेरे अन्दर मेरे जीवन का सम्पूर्ण अतीत बैठा है । धर्म की ध्वजा फहराता हुआ वह मेरे राम का प्रकाशवान् रथ अपने में देख । देख अपने में, दुष्टों का दमन करने वाला और संतों का रक्षण कर सुख का सागर लहराने वाले कृष्ण का सुदर्शन । अनुभव कर हृदय में शौर्य और स्वाभिमान से भरा, शत्रुओं पर वज्र सम टूटा, राणा और शिवा का स्वरूप । समझ अपने में दुखितों, पीड़ितों, असहायों के आँसू पोंछता और अहिंसा की मदद ले, मेरे लिये जूझता गौतम और गांधी का भव्य रूप । पा अपने में, मेरे तन के लिए, मेरे जीवन के लिए, मेरे सम्मान के लिए, प्रतिपल, प्रतिपग, गलता हुआ, फिर भी सम्मान से सीना तान, विदेश को चरणों पर झुकाने वाला पराक्रमी स्वरूप, विवेकानन्द का, अरविन्द का । कौन-सा क्षण मेरे जीवन का तुममें नहीं है । मेरा दर्द भी है, दुःख भी है और है मेरा आह्लाद और सुख भी । सम्हाल इसे, यह तेरी थाती है । यही तो है तू ।

तेरा चिन्तन नहीं है। तेरा स्वर, मेरा ही तो स्वर है। यह भाषा, यह भाव, सब-कुछ मेरा ही तो है। स्वर में कहीं सिंह की दहाड़, कहीं कोयल की कू, कहीं पपीहे की पी, कहीं मोर की कूक, कहीं कलकल झरने की, तो कहीं गर्जन मेघों की, कहाँ से भरी है? किसने दी है? रे शठ, ये सब तेरी माँ के वक्ष पर पलने वाली और तुझमें उतरने वाली बोलियाँ हैं। क्या ईरान दे जायेगा स्वर तुझे? क्या अरब दे जायगा ये बोल तुझे? जहाँ ऊँट-ही-ऊँट हैं, जहाँ भेड़-ही-भेड़ हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तू ही कह सकता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' तू ही गा सकता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तू ही उच्चारित कर सकता है। जानता है क्यों? क्योंकि तेरी माँ पूर्ण है पवित्र है। उसका धर्म है सबको पालना, सबको प्रकाश देना।

तेरा जीवन चले, इसलिए तुझे मिले हैं नियम-शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ध्यान. समाज के साथ चले और समाज सधे इसलिए मिले हैं यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। एकांगी नहीं, सम्पूर्ण जीवन। व्यष्टि और समष्टि। मात्र अर्थ ही नहीं, मात्र काम ही नहीं धर्म पर सधा अर्थ काम और मोक्ष भी। सब-कुछ तो है। फिर उदास क्यों? फिर निराश क्यों? फिर भिखारी क्यों? फिर असहाय क्यों? ऋषियों और मुनियों का प्रकाश है, राम का आदर्श है, दोनों हाथ से उलीचती तेरे लिए सम्पदा और अपना वक्षस्थल फाड़ उड़ेलती हुई अपार खनिज, तेरी माँ है, कण-कण पर अपने दमाती लहलहाती फसल, खड़ी है अनवरत तेरी माँ। फिर क्यों कटोरा ले दौड़ता है भीख का दूसरों के द्वार पर? रक्षा के लिए क्यों भागता है रूस और अमेरिका के पास? तंत्र और मंत्र खोजने जाता है क्यों गैर के घर?

समझो समझो, तू भूल गया। तू अपने को भूल गया। तू बेटा नहीं रहा, तू बन गया वोटर, केवल वोटर। तेरे लिये मैं माँ न रही बन गयी धरती का टुकड़ा। तेरे भोग का साधन। तभी तो मैं कटती रही और तू दीवाली मनाता रहा। मैं रोती रही और तू नहीं सम्हालता रहा। मैं शीश पर चीन का हथौड़ा झेल लहूलुहान बनी और तू बस इतना कह कि वहाँ घास का तिनका भी नहीं उगता, अपनी रंगरेलियों में खो गया। रे मूर्ख, तू अपनी माँ को काटने और बाँटने में खो गया। यह रहा पाकिस्तान, यह रहा खालिस्तान, यह रहा कोल्हन स्थान, यह रहा गोरखा स्थान, यह रहा नागा स्थान, यह रहा तमिल स्थान, यह रहा तेलुगु स्थान, फिर बोल हिन्दुस्तान कहाँ है? भारत कहाँ है? कहाँ है तेरी माँ, जिसको भारत माँ कह तू बोलता है? कहाँ है तेरी माँ, जिसके लिए वन्देमातरम् कह फाँसी का फन्दा चूमता है? कहाँ है वह भारत, जिसके लिए सीने पर गोली उतारता है? सच है तेरे अन्दर का बेटा मर गया। शैतान पैदा हो गया, तुझमें। अब भी सम्हल समझ उन शत्रुओं को, उन दुष्टों को, जिन्होंने तेरे अन्दर से तेरा पुत्रत्व खो दिया और भर दिया तेरे अन्दर यह पैशाचिक भोग का भाव।

तू रह गया कहीं किसान, कहीं मजदूर, कहीं जवान, कहीं कर्मचारी, कहीं अधिकारी, कहीं मतदाता और कहीं नेता। बस बेटा नहीं रहा बेटा, माँ का लाड़ला बेटा होना नहीं भाया। अरे बावले कर्म से कहीं कोख बँटती है। एक ही कोख से जाया है मैंने। एक ही रक्त है, एक ही मांस है, एक ही चेतना है। मेरी ही गोद में बैठे हो, फिर कर्म करने मात्र से अन्तर कैसा? कुछ भी करो, कहीं भी करो माँ के पुत्र बन सको। माँ के हो, तो माँ के गुण प्रकट करो। किसान हो तो बनो बलराम, मजदूर हो तो बनो विश्वकर्मा, जवान हो तो बनो अर्जुन, कर्मचारी हो तो बनो नकुल और सहदेव, अधिकारी हो तो बनो सुभाष मतदाता हो तो बनो भामाशाह और केवट, कर्णधार हो राष्ट्र के तो बनो राजीव-नयन राम। जिनकी श्वास-श्वास में मैं बोलती हूँ, जिनके पग-पग में मैं डोलती हूँ, जिनके हाथों से कर्म बन मैं फूट पड़ती हूँ, जिनमें महक हूँ मैं, जिनमें लहर हूँ मैं जिनमें जीवन हूँ मैं। समान रूप से, व्यक्त हूँ जिनके कण-कण में, क्षण-क्षण में।

यदि सबके मुँह से मैं ही निकली यदि सबके चरणों में मैं ही चली, यदि सबके हाथों में मैं ही बनी, यदि सबके दिलों में मैं ही धड़की, यदि सबके दिमागों में मैं ही कौंधी, तो फिर बँटूँगी कब? कटूँगी कब? छँटूँगी कब? कभी नहीं। कभी नहीं। फिर तो दुर्गा बन अरि की, सामने वालों के खड़ी हूँगी। कौन कह सकेगा मुझे अबला? कौन सता सकेगा, शत्रु मुझे? मेरे तो करोड़ों हाथ हैं, करोड़ों चरण हैं करोड़ों नयन हैं।

डर मत, जहाँ माँ है, पुत्र बन पहले समझ, कर्म तो स्वतः निखर उठेगा। सफलता तो स्वयं चरण चूम लेगी। किसान है तो लहलहाती, फूलती और फलती फसलों से मेरा श्रृंगार कर। मजदूर है तो पसीने की श्रम के कण-कण में भी निर्माण के भवन खड़े कर, मुझे बसा, जवान है तो सीमा पर शत्रु के रक्त से मेरा अर्चन कर मुझे प्रसन्न बना। कर्मचारी है तो निष्ठा और लगन से, कर्म की कुर्सी को पवित्र कर, मुझे धन्य बना। अधिकारी है तो आचरण से अपने आदेश के स्वर फूटने दे और उनका कर्मचारियों से सहज ही प्रसन्नता पालन करा, मुझे गद्गद कर। मतदाता है तो विवेक की गहरी खोज से, पुत्र को छाँट, जिसमें वह नहीं लोक बोलता है, जिसमें वह नहीं लोक बसता है और कर मुझे आह्लाद से परिपूर्ण, यदि है राष्ट्र का कर्णधार तो, फिर पूछ क्यों, बन राम-सा, पूज्य बापू का आराध्य राम बन, कर दे मुझे अखण्ड, कर दे मुझे एक, कर दे सबको नेक, बरसा दे सुख, शान्ति, सम्पन्नता और समता दे फिर से मेरी गोद, मेरे त्रास भगा दे दुःख-दैहिक, दैविक, भौतिक। गूँज उठे आकाश में जय हिन्दुस्तान।

तेरी माँ

को मानव ने भी अपने आचरण में उतारा। राजा रन्तिदेव कामना करते हैं कि मोक्ष नहीं चाहिए, चाहिए तो केवल दीन-दुःखियों के हृदय मे प्रवेश कर, उनके दु.ख-दर्द को ले लेना। हनुमान्-सा भक्त क्या चाहता है ? सेवा, सेवा, केवल सेवा। समस्त सृष्टि को ईश्वर का ही रूप मान उसकी सेवा करना ही अभीष्ट है। इस समाज-निष्ठा का ही परिणाम है कि राम-राज्य में कहीं दुःख, दैन्य नहीं। सभी समान रूप से सुखी है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि दूसरे का हित साधन करना ही उसका सबसे बड़ा धर्म है। अपने लिये नहीं, समाज के लिए जीना ही श्रेष्ठ है। स्वामी विवेकानन्द, भारतीय समाज को ललकारते हुए कहते है "जब तक देश में एक कुत्ता भी भूखा है, तुम सुख की नींद कैसे सो सकते हो।" सम्पूर्ण समाज की चिन्ता, सजगता के साथ रखना प्रत्येक नागरिक का पावन दायित्व है। समाज के साथ, स्वय का विकास हो, यह धारणा स्वस्थ धारणा है, परन्तु समाज के शोषण पर अपनी सुख की अट्टालिका खड़ी हो, तो यह घृणित, निकृष्ट और पापयुक्त कल्पना है। न शोषण करे. न शोषण होने दे, न भेदभाव करे, न भेदभाव होने दे। पूज्य बापू के स्वप्नो का भारत, यही रूप रखता है। व्यक्ति समाज निर्माण के लिए धरती पर आया है, समाज-विनाश के लिए नहीं। प्रकृति में सृजन के स्वर हैं, संघर्ष का अट्टहास नहीं। बीज वृक्ष के रूप में संघर्ष के लिए नहीं, अपने 'स्व' के साक्षात्कार के लिए प्रकट होता है। उसके जीवन का उद्देश्य किसी का विनाश नहीं, वरन् किसी के लिए अपने को समर्पित कर देना है। सम्पूर्ण सृष्टि एक-दूसरे को सहयोग देती हुई चल रही है। इसका आधार संघर्ष नहीं, सहयोग है। शोषण और संघर्ष पर सभ्यता नहीं खडी, सभ्यता सहयोग के धरातल पर खड़ी है। विकृतियाँ आयीं और गयीं, परन्तु मूल धारा लोकचेतना की, कभी विलीन नहीं हुई। पश्चिम भी इस पवित्र धारा से वंचित नहीं रहा। व्यक्ति के स्वभाव में समाज बसता है। व्यक्ति का ही विकास तो परिवार है और परिवार का व्यापक रूप राज्य। सामाजिक चेतना की सीढ़ी पर चढता हुआ समाज सभ्यता का सूर्य बन चमकता है।

आर्थिक जीवन में लोकचिन्तन

साधन बिना, साधना अधूरी है। साधनों का अम्बार प्रकृति ने पुरुष के चरणों पर इसीलिए बिखेर दिया। वक्ष फाड़ धरती ने, सोना, चाँदी, जवाहरात, मानव की गोंद में भर दिये। पटल पर लहलहाते पौधों ने धान्य से कोठों को पाट दिया। वृक्षों ने अपने फलों से मानव के हाथ भर दिये। लक्ष्मी उसके पास बिराजने लगी। बात अलग रही, वह लक्ष्मी वाहन बने या कि लक्ष्मीपति। लक्ष्मी के संकेतों पर नृत्य करे, या कि लक्ष्मी को दिशा दे। लक्ष्मी लाने का मंत्र उसे मिला, भारत की धरती से—'कराग्रे वसते लक्ष्मी।' हाथ के आगे लक्ष्मी वास करती है। परि-

श्रम करो, लक्ष्मी मिलेगी। परन्तु, भारत की दिशा यहीं नहीं रुकी, सावधान किया उसने 'कर मध्ये सरस्वती।' ज्ञान की आवश्यकता है। विवेक चाहिए। विवेक न रहा तो जिस डाल पर बैठे हो वही काट डालोगे। और अन्त में दिया भारत ने लक्ष्मी का लक्ष्य। सावधान, लक्ष्मी तुम्हारी नहीं। 'कर मूले तु गोविन्दः।' मूल में गोविन्द है। गोविन्द को समर्पित होना चाहिए। नित्य गाते हैं 'तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मोरा' और नित्य उच्चारण करते हैं 'इदं न मम' परन्तु दुर्भाग्य है, करते हैं उच्चारण करते हैं, करते नहीं। व्यक्ति के जीने के लिए, समाज में बने रहने के लिए, समाज बनाये रखने के लिए और अन्त में अपने साध्य की उपलब्धि के लिए, रास्ता मिला। रास्ते को हमने पुरुषार्थ चतुष्टय में ढाल दिया। धर्म सर्वत्र हमारा नियन्ता बना। लोक की बात हो या परलोक की। "यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्त्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। अभ्युदय के लिए अर्थ आया, परन्तु उन्मुक्त नहीं। लगाम अर्थ के घोड़े की, धर्म के हाथों रही। अर्थ का उत्पादन धर्माधारित हो, उपभोग धर्माधारित हो, उसकी व्यवस्था धर्माधारित हो। अर्थ का धरा पर कोई अभाव नहीं, परन्तु धरा का पुत्र 'मानव' अर्थ के प्रभाव में 'पशु' न बन जाय। अर्थ का अभाव तो न खटके, परन्तु प्रभाव भी न, मद बन बहके। भाव ही रहे। कामनाएँ संतुष्ट हों, इसलिए अर्थ का साधन, न कि साधक ही नष्ट हो जाय इसलिए अर्थ का माध्यम। साधक के लिए साधन आवश्यक है। बिना साधक के, कामनाएँ आती है और अतृप्त, आकाश में विलीन हो जाती हैं—

"उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।"

निर्धनों और दुर्बलों की इच्छाएँ हवा में महल बनाने के समान हैं। इसलिए अर्थ सदैव, साधक के साथ जुड़ा। भौतिकवादी युग में तो अर्थ ही सर्वस्व बन गया, परन्तु 'ब्रह्म सत्य है जगत्मिथ्या' कहने वाले भी 'अर्थ' से भाग न पाये। उपनिषद्कार ने बीजरूप से 'अन्न वै ब्रह्म' कहकर इस जगत् को उपास्य से जोड़ा है और जगत की कल्पना को माया का खेल चाहे वेदान्ती मान लें किन्तु कबिरा का सत्य जग उजागर है—

"न कछु देखा ज्ञान ध्यान में, ना कछु देखा पोथी में।
कहत कबीर सुनो भई साधो, जो देखा दो रोटी में॥"

अर्थ या रोटी जीवन का आधार है। जगत् कभी अर्थ से शून्य नहीं रहा। पश्चिम के समस्त वाद, आज अर्थ के ही चारों ओर घूमते हैं। पूँजीवाद हो या

साम्यवाद। कोई संचय का, तो कोई वितरण का मंत्र साधे है। इस सर्वव्यापी अर्थ-चिन्तन को, यों ही नहीं छोड़ा जा सकता। इसे दिशा की लगाम चाहिए। भारत ने यह कार्य किया। व्यक्ति साधना को समष्टि के चरणों पर समर्पित किया है। 'अहं' को 'वयं' में मिलाया है। वैदिक अर्थ नीति का मूलाधार एवं प्रयोजन वैयक्तिक उन्नति एवं समृद्धि न होकर समस्त विश्व का कल्याण ही है। ब्रह्मा से लगाकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त एवं उसके बाद ऋषि दयानन्द तक सभी ने वैयक्तिक मोक्ष को ध्येय न मानकर मानवता के त्राता के रूप में ही अपना जीवन व्यतीत किया। स्वामी विवेकानन्द, इसी समाज के लिए जिये। समाज के लिए समर्पण 'यज्ञ' है। यज्ञ द्वारा सर्वस्व का त्याग हर्षवर्धन के आचरण में देखने को मिल जाता है। कमाओ सैकड़ों हाथों से, परन्तु सहस्रों हाथों से बाँट दो। बाँटो परन्तु छीनो मत। स्वयमेव, समाज के लिए, अर्थ समर्पित होना चाहिए। भारतीय समाज मे, समाज संचालन के लिए, पूर्ण व्यवस्था रही है। गुरुजन बिना अर्थ लिये विद्या दान दें, राजा अपने सुख की चिन्ता न कर प्रजा का रंजन करें, व्यापारी अर्थ का अर्जन कर समाज का पोषण करें और जो अधिक महत्त्व का कार्य नहीं कर सकते वे दूसरों की सेवा करते हुए जीवन व्यतीत करें। अर्थ का साम्राज्य समाज पर न छाने दें। उपभोग की वृत्ति न जगायें, अपनी व्यवस्था के लिए अर्थ चाहें। अधिकाधिक उपभोग, संग्रह के लिए प्रेरित करता है और संग्रह का प्रयास संघर्ष को जन्म देता है। उपभोग कामना की तुष्टि नहीं, कामना की वृद्धि करता है। इसलिए नियंत्रण कामनाओं पर चाहिए। अपनी कामनाएं नियंत्रित करें, दूसरों की आवश्यकताएँ पूर्ण करें।

भारत में गृहस्थ के लिए नियम है कि वह सेवकों को प्रथम भोजन करायें फिर स्वयं भोजन करें। वही वास्तव में जीवित है जो एक होने पर भी बहुतों का पालन करता है। अन्य पुरुष तो केवल अपना पेट भरते हैं, जो जीवित ही मृतक के समान हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख है कि प्रजा यदि भिक्षा माँगने लगती है तो राजा का नाश हो जाता है। राजा तो पिता के समान प्रजा का पालन करता है।

भारत की प्रकृति, दान की प्रकृति है। समाज उदारतापूर्वक देता है। अर्थ की कौन कहे, अपनी हड्डियाँ तक दान दी हैं। मनुष्य को ही नहीं, कौओं और सर्पों को भी खिलाया है। समाज के लिए और अपनों को खिलाने-पिलाने की वृत्ति ही, समाज को साधे रही, परिवार बनाये रही। पच्छिम की हवा, स्वार्थ की आयी, तो परिवार टूटने लगे। निर्बल और निर्धन समाज के रक्त पर, वैभव के भवन खड़े होने लगे। देखकर, गांधी, रो दिया। १९१६ में दरभंगा के महाराज सर रामेश्वर सिंह को लताड़ दिया, गहनों की प्रदर्शनी मत लगाओ, यह तो गरीबों

की धरोहर है, उनका कल्याण करो। किसी देश की सुव्यवस्था की पहचान यह नहीं है कि कितने लखपति रहते हैं, परन्तु यह है कि समाज में कोई भूखों तो नहीं मर रहा है। जिनके सामने रोटी-रोजी का सवाल है, जिन्हें न रहने के लिए मकान है, न तन ढँकने के लिए कपड़ा, अपने मैले-कुचैले बच्चों के बीच, आज दम तोड़ रहे हैं, इनको सम्पन्न व सुखी बनाना हमारा व्रत है। परन्तु आज कितने हैं जो यह व्रत लेते हैं। सोचने की बात है। देशभक्ति का नाम लेकर, लखनऊ और दिल्ली के मन्दिरों में बैठे ये बगुलाभगत, कितने असहायों के आँसुओं और रक्त-मांस से अपने भोग का बँगला बनाते हैं।

राजनीतिक जीवन में लोकचिन्तन

राजनीति लोक की कोख से, व्यवस्था के लिए, उपजी एक धारा है। धारा जो अपने, न्याय में पगे, सर्वहित में सने, लोक-उत्कर्ष के लिए, पावन संस्पर्श से जन-जन को जोड़ती है। बिखराव को बाँधती है, अव्यवस्था को व्यवस्था देती है और विकृति को संस्कृति की ओर मोड़ती है। स्वार्थ भावना से लिप्त व्यक्ति, पशु बन, जब समाज का शोषण करता है, पशुता पर राजनीति का नियंत्रण, दिशा-बोध कराता है। राजनीति लोक-निर्माण के लिए चली, लोक-विनाश के लिए नहीं। राजनीति, राम के हाथों पड़, जन-जन की प्यारी हुई, आराध्या हुई। राम के प्रति भक्ति उमड़ी। इसी काल में राजनीति गांधी के हाथों में पड़, पवित्र श्रद्धा का केन्द्र बनी, लोहिया, दीनदयाल और जयप्रकाश के हाथ उसे सम्मान के क्षेत्र में सँभाले रहे, परन्तु दुर्भाग्य, आज, राजनीति जो कभी भक्ति की गंगोत्री से बही, श्रद्धा के क्षेत्र में फैली, प्रदूषण की भ्रष्ट गंदगी ले इतनी मैली हो गयी कि उसमें डुबकी लगाना तो दूर, उसके तट पर जाना भी नहीं भाता। राम की राजनीति को देख कौन अपना शीश नहीं नवा देता? गांधी के राजनीतिक दर्शन और आचरण के सामने कौन श्रद्धा से नमन नहीं करता? जयप्रकाश, लोहिया, दीनदयाल के चिन्तन और आचरण को कौन सम्मान नहीं देता? अब गांधी का आचरण कहाँ? लोहिया का संघर्ष कहाँ? दीनदयाल का चिन्तन कहाँ? कौन पूछता है 'राम राज्य'? सत्तातन्त्र के सामने लोकतंत्र ओझल हो गया।

व्यक्ति पक्ष नहीं, पूर्ण है। पूर्ण का अंश है, पूर्णता की उसमें अभिव्यक्ति है। चिन्तन हो या आचरण, कर्म हो या घटना, सभी पक्ष एक साथ बैठे हैं। सब मिलकर एक हैं। न अलग हैं और न अलग हो सकते हैं। मनुष्य का समस्त कार्य-व्यापार एक अविभाज्य इकाई है। हम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक क्रियाओं को अलग-अलग नहीं कर सकते। फिर भला राजनीति जीवन से कैसे अलग हो सकती है? समाज में रह राजनीति की डगर पर तो चलना ही होगा।

यह बात अलग है कि आज राजनीति विषैली हो गयी है। पूज्य बापू स्वयं कहते हैं "हमने राजनीति में प्रवेश इसलिए किया, क्योंकि आज राजनीति हमसे एक साँप की भाँति लिपटी है, जिससे हम अलग नहीं हो सकते, चाहे हम कितना ही प्रयास क्यों न करें। मैं साँप से लड़ना चाहता हूँ।" लड़ने का ढंग, बापू का, राजनीति को मारने का नहीं, राजनीति के विष को मारने का है। वह अपने प्रयास से, राजनीति की नागिन को, सुखद हार में बदलना चाहते हैं। उनका कथन है "मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ क्योंकि धर्मविहीन राजनीति एक मौत का फन्दा है, जो कि आत्मा की हत्या कर देती है।" यह विष, यह मौत का फन्दा, भारत ने अपने जीवन के अध्यात्म से बदला है। जहाँ, मनुष्य केवल आर्थिक प्राणी है, वहाँ भौतिक धरातल पर, राजनीति, डसने वाली सर्पिणी है और जहाँ मनुष्य पशु न होकर, परमात्मा का विवेकशील अवतरण है, धर्म जिसकी दिशा है, वहाँ राजनीति समाज की चेरी है। भारत में व्यक्ति और समाज दोनों ही धर्माधारित हैं। अर्थ धर्म के द्वार से आता है, कामनाओं की तृप्ति, अर्थ से, धर्म के हाथों होती है, तब प्राप्त करने का प्रश्न आता है 'मोक्ष' का। धर्माधारित समाज भला कैसे भुला सकता है, लोक को।

भारत की राजनीति में, 'लोक' आराध्य है। तंत्र के मन्दिर में, लोक ही देवता है। उसी की साधना समाज करता आया है। इस मूल आदर्श का दर्शन हमें वेदों में मिलता है। समाज एक रहे, बिखरे नहीं। एक 'आत्म' की धारा मे बहता, सुदृढ़ राष्ट्र हो। इस राष्ट्र की वन्दना के लिए अथर्ववेद का पूरा पृथ्वीसूक्त हमारा राष्ट्रगीत है। 'संगच्छध्वम', 'संवद्ध्वम', 'समानं मनः' आदि उद्बोधन कर एक-सूत्रता में समाज को बाँधने का सफल प्रयास है।

सबमें समान रूप से वही परम शक्ति तरंगायित है। सब उसी विराट् के अंग हैं। उसी की संतानें हैं, सब। वैदिक ऋषि कहता है "तुम सबकी माता भूमि है, तुममें न कोई बड़ा है और न कोई छोटा, सब मिलकर सौभाग्य के लिए बढ़ो।" भारतीय संस्कृति ने सदैव अनेकता में एकता को देखा तथा शांति के लिए उसका प्रसार किया। सामंजस्य और समन्वय की यह भावना, सहिष्णुता के स्रोत मे बही है। इसी स्रोत से निकल सामंजस्य और समन्वय लोकतंत्र की भागीरथी के रूप में, चल पड़ा। भारतीय संस्कृति का आधार यही सहिष्णुता है। लोक-भावना का चिन्तन, यही तो देती है। जन-जन के मन से निकलने वाली भावना, सहिष्णुता के आलोक से प्रकाशित हो, लोक-चेतना बनती है। सबकी इच्छा 'एक' बनती है। जिसका सामर्थ्य शासन चलाता है। राजा राम इसी मत के आगे नतमस्तक हैं। लोकमत का वह सम्मान करते हैं। तुलसी इसी दृष्टि को व्यक्त करते हैं कि राज-

कीय व्यवहार कोरी राजनीति से नहीं चल सकता, उसमें साधुमत और लोकमत का मेल अनिवार्य है—

"करिय साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि।"

लोक की चिन्ता, राजा को वैसे ही रखनी है, जैसे घर का मुखिया घर की चिन्ता रखता है। मुख की तरह मुखिया सब-कुछ ग्रहण करता है, परन्तु वितरण अंगों की आवश्यकतानुसार और उपयोगिता की दृष्टि से करता है—

"मुखिया मुख सो चाहिए, खान-पान को एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥"

इस लोक की चिन्ता, इसके हित के लिए चिन्तन, भारत में आदिकाल से चलता आया है। पं० जवाहरलाल नेहरू, इसी भावना को, १४-१५ अगस्त, १९४७ को व्यक्त कर उठते हैं "हमारे युग के महानतम पुरुष (गांधी जी) की महत्त्वाकांक्षा यह रही है कि प्रत्येक आँख से आँसू पोंछ दिया जाय।" उनके लिए भारत की सेवा का अर्थ था, करोड़ों नर-नारियों की सेवा, जो कि पीड़ित और दलित हैं। लोकहित के लिए चिन्तन करते हुए, विनोबा जी तो सत्ता को ही समाप्त करने की बात करने लगे। 'स्व' शासन उनका साध्य बना। सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है समन्वय। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व है, लोक का महत्त्व है, परन्तु सत्ता का नहीं। सत्ता तो माध्यम मात्र है। लोक गया तो तंत्र किस काम का। इसलिए लोकतंत्र में लोक ही सब-कुछ है।

यही लोकहित भावना, इंग्लैण्ड में, मैग्नाकार्टा के अधिकार-पत्र में मुखरित हुई। अमेरिका में भी लोकहित का युद्ध लोक के पक्ष में गया। स्विटजरलैण्ड तो पहले से ही लोक-भावना का घर रहा है। अफलातून, आदर्श राज्य उसी को मानता था, जिसमें मानव आत्मा के सभी गुण विद्यमान हों। इस लोक-भावना का सर्वत्र प्रकाश फैला। लोक को लेकर ही, वाद चले, तंत्र बदले, क्रान्तियाँ हुईं। लोक का स्वर ही सबसे ऊँचा स्वर बना।

धार्मिक जीवन में लोकचिन्तन

धर्म मानव-जीवन-यात्रा का संबल है, प्रकाश है, पावन बोध है, जिसे ले व्यक्ति उत्कर्ष की ऊँचाइयाँ छूता और बढ़ता ही चला जाता है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के लिए, निकली अमोघ जय-यात्रा, इसी धर्म के प्रकाश में चलती चली आयी। भारतीय जीवन का तो कोना-कोना इसी प्रकाश से आलोकित रहा। पेट की भूख से लेकर आत्मा की भूख तक, यही संतुष्टि का साधन बना। भिखारी की कुटिया से लेकर, राजा के भवन तक यही जीवन का रक्षक बना। समाज की साधना इसी डगर पर चली। इसे छोड़ कोई न चला। व्यक्ति ने छोड़ा तो

व्यक्ति गया, समाज ने छोड़ा तो समाज गया। मेरुदण्ड है, यह जीवन का। अक्षय सुख का भंडार। अपरमित प्रेम का सागर। कौन भला न चाहेगा, इस सागर में गोते लगाना? इसका बन्धन तो सुख का बन्धन है। पीड़ा देने वाली बेड़ियों का बन्धन नहीं, बेड़ियों और गुत्थियों को झकझोरने और तोड़ने वाली महत् प्रेरणा का स्पन्दन है। इससे व्यक्ति बनता है। समाज बनता है। इसके पतन से समाज का पतन होता है। धर्म मानव जाति की समाज श्रृंखला को अटूट रखने वाला प्रबल तंत्र है। जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है। "ध्रियते लोकः अनेन इति धर्म.।" जो लोक को धारण करे वह धर्म है "धरति धारयति वालोकम् इति धर्मः" और जो दूसरों से धारण किया जाय, वह धर्म है "ध्रियते यः स धर्मः।" जिससे इकाई बनी रहती है, जिससे उसकी रक्षा होती है, जिसके कारण इकाई इकाई है, वही तो उसका धर्म है। मनु की दृष्टि में जिन परिवर्तनशील उपायों से, व्यष्टि, समष्टि और ब्रह्माण्ड की रक्षा हो, वही धर्म है। इसी से व्यक्ति इस लोक और उस लोक की सिद्धि करता है "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" धर्म के हाथों धन की वर्षा होती है, सुख समाज में उतरता है, प्रत्येक साधन उससे प्राप्त होता है, विश्व धर्मी का प्रतिफल है, सार है। इसीलिए धर्म को जाते देख, ईश्वर धर्म स्थापना की चिन्ता करता है। धर्म ही शक्ति है, जिससे समाज चलता है। कानून और नियम समाज नहीं चलाते। धर्म को छोड़ समाज चलने लगे तो कानून कागजों में कैद रह जाता है, नियमों का नियंत्रण हवा में उड़ जाता है। सच्ची व्यवस्था तो धर्म की व्यवस्था है। न राजा है, न राज्य, न दण्ड है न दण्ड देने वाला, अपने-अपने धर्म से सब बँधे आपस में सब एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। यह है लोक की सच्ची साधना—

"न वैराज्यं न राजासीत, न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम्॥"

भारतीय लोक का तो, धर्म प्राण है। विदेश की धरती साधन की धरती है। रूस रोटी के लिए दौड़ता है तो इंग्लैण्ड व्यापार के लिए, अमेरिका पूँजी के लिए बेचैन है तो फ्रान्स राजनीति के लिए। रोटी गयी तो रूस गया, व्यापार मिटा तो इंग्लैण्ड मिटा, पूँजी छिनी तो अमेरिका छिन्न-भिन्न हुआ, राजनीति टूटी तो फ्रान्स टूट गया। परन्तु भारत किसी के मिटाये न मिटा। रोटी छिनी, गद्दी छिनी, व्यापार छिना, पूँजी भी छिन गयी, परन्तु भारत भारत रहा। भारत का प्राण न रोटी है, न गद्दी, न पूँजी है, न व्यापार। यह तो धर्म की धरती है। यह तो साधक और साधना की धरती है। धर्म ही इसे सँभालता है। इसलिए भारत की राजनीति भी धर्म के ही रास्ते चलती है। गांधी के लिए राजनीति, यदि धर्मरहित है, तो शव बन जाती

है। धर्मविहीन राजनीति मौत का फन्दा है। ऋषि दयानन्द हों या स्वामी विवेकानन्द, तिलक हों या गांधी, प्राण देश मे धर्म के स्वरों से ही स्पंदित हुआ।

सत्याग्रह क्या धर्म के सम्बल बिना ही चला? सम्बन्ध और आत्मीयता ही तो इसे शक्ति प्रदान करती है। सब एक ही है, तभी तो एक की बात, दूसरों को हिला देती है। मानव प्रवृत्तियों का समस्त क्षेत्र अविभाज्य है। व्यक्ति की प्रकृति एक है। सब जानते भी है और मानते भी है परन्तु आचरण जंगल का है। कोई भी मत, कोई भी पंथ, कोई भी सम्प्रदाय, कोई भी मजहब, इस धारणा से अलग नहीं फिर भी आचरण एक-दूसरे को समाप्त करने का है।

धर्म की राह पर चलते हुए, व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मानता हुआ, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा करता है। सबमे ईश्वर के दर्शन करता हुआ वह स्वयं को समष्टि हित समर्पित करता है। सबै भूमि गोपाल की मान, वह कुछ लेना नहीं चाहता। प्राणिमात्र की सेवा मे रत होता है। उतना लेता है, जितना आवश्यक है। अधिक लिया तो चोर बनता है। यज्ञ करता हुआ समाज हित अर्पित होता है। छोटे स्वार्थ को बड़े हित के लिए छोड़ता जाता है। कुल को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए, जनपद को राष्ट्र के लिए छोड़ते देर नहीं लगती। व्यापक हित में, अपना हित निहित रहता है। तुलसी सबके हित को ही दृष्टि मे रख कहते हैं—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।"

समाज में रह, समाज का न हुआ, तो पशु है, मनुष्य नहीं। समाज के लिए, सेवा का पाठ किस मजहब ने नहीं दिया। दूसरों के लिए जीने वाला ही सराहा गया। वही सदा सम्मानित हुआ, जो औरों के काम आया। समाज की नींव ही, इसी समर्पण पर टिकी है। संवेदन ही तो बांधने वाला तत्त्व है। इसी में लोक-दृष्टि छिपी है। लोक की साधना प्रेम हो, या भक्ति, श्रद्धा हो या दुलार, इसी संवेदन की धारा से होती है। सम्बन्ध बनते हैं। व्यक्ति अपने से बड़ लोक की सोचने और करने के लिए विवश होता है। लोकचिन्तन इसी स्रोत से बहता है। बिन्दु-यात्रा करता हुआ, सिन्धु का व्याप बनता है। 'आत्म' लोक का विराट् रूप बन चमकता है। इसकी साधना ही, व्यक्ति की अमर साधना है।

———

प्रेमचन्द की कहानी 'कफ़न' : एक दृष्टि

कहानी 'कफ़न' बुधिया और माधव की कहानी नहीं। यह किसी वर्ग और जाति की भी कहानी नहीं। यह तो सत्य का उद्‌घाटन है। वह भी पूर्ण और पवित्र। इतना पूर्ण और पावन कि प्रत्येक के अन्दर बैठा सत्य उसे अपना ही स्पंदन अनुभव करता है। उसके भाव, प्रत्येक के भाव बन जाते है। उसके संवेदन, प्रत्येक के संवेदन बनते है।

बुधिया और माधव तो मात्र माध्यम हैं। वर्ग और जाति तो 'सत्य' के उद्‌घाटन के लिए उपयुक्त परिस्थिति की परिधि है, जिसमें व्यक्त हो 'सत्य' बोल उठता है। यह सत्य, समाज का सत्य है। यह सत्य समाज की चेतना का सत्य है। समाज की दृष्टि का सत्य है।

यह कहानी कल्पना का परिणाम नहीं। केवल मस्तिष्क की उपज नहीं। न ही यह है मात्र समाज के किसी वर्ग का वह चित्र जो साहित्यकार के मानस पर उतरा हो और साहित्यकार ने अपने शब्दों मे बाँध हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया हो। यह तो भारतीय संस्कृति के चैतन्य का वह वेगवान् स्पन्दन है, जिसे साहित्यकार अपने में रोक नहीं पाता और पात्रों के माध्यम से फूट पड़ता है।

यह चैतन्य साहित्यकार की कृति में स्वतन्त्र अस्तित्व ले बैठा है। तभी तो, साहित्यकार की कृति स्वतंत्र होती है, परतंत्र नहीं। अपनी व्याख्या और अपनी दृष्टि के लिए साहित्यकार की मोहताज नही। स्वयं बोलती है, वह। परन्तु एक शब्द या एक वाक्य भाव और अर्थ समझा नहीं सकता। सम्पूर्ण कृति ही अपनी दृष्टि व्यक्त करती है। भवन में बना देवालय, पूरे भवन को देवालय नहीं बना देता। भोजनालय से लेकर देवालय तक बने सभी कक्ष मिलकर भवन की इकाई का बोध कराते हैं। वहाँ की समग्रता में पलने वाला जीवन ही इकाई का सही बोध देता है।

'कफ़न' कहानी भारत की धरती की कहानी है। जहाँ वादों का विवाद नहीं, पूर्णता का बोध है। अधिकार की आँधी नहीं, कर्तव्य की भागीरथी है। कर्तव्य भी 'स्व' के कूप में गोता नहीं लगाता, समष्टि के सागर में रमता है। धर्म की धरती पर, कर्तव्य के चरण पड़ते हैं। और यह धर्म मजहब या रेलीजन का पर्यायवाची नहीं। मत या पंथ नहीं। अस्तित्व की अनिवार्यता है।

दृष्टि डालें इस कर्म-बोध की कहानी पर, जन्म से लेकर मरण तक की

कहानी है, अभाव से लेकर प्रभाव तक की कहानी है, भौतिक भूख से लेकर आध्यात्मिक स्वर्ग के सुख तक की कहानी है, शराब के नशे में विकृति के गड्ढे से लेकर, विवाह के पावन संस्कार की स्मृति और बोध तक की कहानी है, घोर निराशा से लेकर पूर्ण आस्था तक की कहानी है, अकर्मण्यता और आलस्य से लेकर कर्मण्यता के शिखर तक की कहानी है, घृणा से लेकर पवित्र श्रद्धा तक की कहानी है, भीख से लेकर दान तक की कहानी है। कोई भी पक्ष तो ओझल नहीं। सभी पक्षों में एक ही दृष्टि दौड़ रही है और वह है कर्म की उपासना।

कर्म न करना, अकर्मण्यता ही नहीं, वह तो कर्म के लिए जन्मे इन्सान की सामर्थ्य और कुशलता की हत्या है, समाज के लिए समर्पित होने वाले सेवा कर्म की, कोख में ही नृशंस हत्या है, जिसके कारण भिक्षावृत्ति और चोरी एक ओर पनपती है तो दूसरी ओर शोषण और अन्याय पलता है। फिर भला ऐसी अकर्मण्यता को क्यों न धिक्कारा जाय, उससे घृणा क्यों न की जाय?

'कफ़न' के घीसू और माधव इसी अकर्मण्यता के, चलते-फिरते, पुतले हैं। "घीसू एक दिन काम करता तो चार दिन आराम" और "घर में मुट्ठी भर अनाज मौजूद हो तो उनके लिए काम करने की कसम थी" काम से उनका कोई वास्ता नहीं। जबसे वह बुधिया आयी, तब से तो "दोनों और आलसी और आरामतलब हो गये।" ऐसी अकर्मण्यता कि पशुता भी शरमा जाय। वह प्रसव वेदना से कराह रही है और "झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों, एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं" कोई चिन्ता नहीं। कोई संवेदना नहीं। कोई उत्साह नहीं। फिर कर्म कैसा?

पीड़ा से छटपटाती बुधिया को, पड़ोस में किसी को दिखाना, बुलाना तो दूर वह स्वयं भी देखना नहीं चाहते। कौन उठे? उसके लिए दवा और खाने की चिन्ता की बात ही कहाँ? जब अलाव से हटना भी नहीं संभव। आलस्य और आराम के लिए, सारे सम्बन्ध समाप्त। बुधिया का दर्द, उनके लिए कोई दर्द नहीं। घर में बच्चा आने वाला है, परन्तु उन्हें कोई उत्साह नहीं। इसलिए कर्म भी नहीं।

उन्हें चिन्ता है तो केवल इस बात की कि उनको आराम में खलल न पड़े। वे चाहते हैं कि "जल्दी मर क्यों नहीं जाती?" वे दोनों इसी इन्तजार में थे कि वह मर जाय तो आराम से सोयें।

इस अकर्मण्यता से, इस आलस्य से कौन नहीं घृणा करेगा? भला कोई भी घीसू पर दया करेगा? भला कोई भी माधव पर दया करेगा? इनका आलस्य कुत्सता और नीचता की भी सीमा पार कर गया है। अकर्मण्यता के प्रति घृणा

निरीहता और अकर्मण्यता के जीवन से आगे बढ़, व्यक्ति का वह जीवन मिलता है, जहाँ वह केवल अपनी चिन्ता करता है। अपनी भी पूरी कहाँ? न दिल की बात है, न दिमाग की। न आत्मा की बात है, न परमात्मा की। केवल बात है अपनी भूख की, अपने मजे की। अपना शरीर ही सब-कुछ है। उसी की भूख उसे दौड़ाती है। चाहे रोटी हो या कपड़ा, मकान हो या मनोरंजन। बस अपना चाहिए, अपने लिये चाहिए। न उसे माँ की चिन्ता है और न पिता की। भाई-बहन का प्रश्न ही नहीं उठता। मित्रों की दुनिया तो बहुत दूर। सबसे छीनना और लूटना ही है, उसे। कैसे भी हो, वह बने। इस लूट की प्रक्रिया में उसकी पाशविक वृत्तियाँ ही चलती हैं। काया ही डोलती है। हाथ बढ़ते है। चरण चलते हैं। बुद्धि नहीं चलती। बुद्धि से उसका लगाव नहीं। विकास की यात्रा पर, बस अकर्मण्यता ही छूटी है, आलस्य ही भागा है। भूख के लिए औरों पर निर्भरता भागी। उसने स्वयं अपने कायिक अस्तित्व को सँभाला है। पर है वह सीमित इसी अपने कायिक अस्तित्व में। आहार, निद्रा, भय और मैथुन का ही संसार उसका संसार है। यह संसार, विकास का, प्रथम चरण है।

विकास का पहिया आगे घूमा, तो उस स्थल पर पहुँचा जहाँ व्यक्ति काया के साथ, मस्तिष्क को भी जोड़ बैठा। बुद्धि ने साथ दिया। समस्त प्रयास बुद्धि से सचालित हुए। समाधान सरल बने। सफलता सहज हुई। सम्पदा लौटने लगी। परन्तु सब कुछ रहा, अपने जीवन के ही लिए। स्वार्थ की संकुचित कारा से बाहर न निकला। अपना तन देखा, अपना मन देखा, अपना घर देखा, अपना यश देखा, अपना वैभव देखा और अपना ही विकास देखा। समस्त बुद्धि, अपने को ही समर्थ बनाने में जुटी। रूप कोई भी बना, चाहे सामान्य व्यक्ति का या सम्पन्नतम व्यक्ति का, परन्तु रहा वह अपने स्वार्थ का बन्दी। इतना अवश्य हुआ कि उसके प्रमाणों को बुद्धि ने माँजा, सँभाला और सुन्दर स्वरूप में ढाल दिया। शैली बदली, व्यवहार बदला।

व्यक्ति बना, बहुत बना, परन्तु समाज के लिए नहीं बना। औरों की तो बात दूर, वह अपनों के लिए भी नहीं बना। उसकी आसमान चूमती अट्टालिका, भाई की सिसकती झोपड़ी को दो तिनके भी न दे सकी। दो दिन से भूखी, रोटी के लिए बिलखती भाई की बिटिया, टकटकी लगाये, इस अट्टालिका में जलेबी पर टूटते कुत्तों को देखती तो रही, परन्तु तिनका भी एक न पा सकी। पाती कैसे? हृदय था कहाँ? आत्मा और परमात्मा की तो बात दूर रही, हृदय की धड़कन तक न समझी। बस अपनी बुद्धि अपने स्वार्थ पूर्ति का ही साधन बनी। इतना ही विकास हुआ कि काया बुद्धि से जुड़ी। बुद्धि ने काया को संचालित किया। सफलता आयी, पर केवल अपने आँगन, अपने घर। यह विकास का दूसरा चरण बना।

सौभाग्य से स्वार्थ की दीवारें दरकी। हृदय की धड़कन जगी, तो एक-एक दीवार ढहने लगी। दीवार गिरते ही संकीर्णता हटी और आँगन विस्तीर्ण बना। अपने घरौंदे से व्यक्ति निकला। देखा-समझा। अपनापन बढ़ता गया। अपना आँगन लाँघ, अपने गाँव और गाँव की सीमा पार कर क्षेत्र भर में फैल गया। शरीर और बुद्धि के साथ, हृदय का सम्बन्ध जुड़ा। आवश्यकताओं की पूर्ति हुई। पूर्ति स्वयं उसने की और वह भी बुद्धि के बल से, उत्तम रीति से, परन्तु अब केवल उसकी ही आवश्यकताएँ नहीं रहीं। पूर्ति के घेरे में संतुष्टि की सीमा में, उसके परिवार-जनों की, उसके मित्रों की, उसके न जाने कितने अपनों की और भी आवश्यकताएँ आ बैठीं। पूर्ति ने सबको संतुष्ट किया। वह इस संतुष्टि में अपनी ही संतुष्टि पाता था।

अपने स्वार्थ को केन्द्र मान, उसी के चारों तरफ दौड़ने वाला, बन्द आँखों वाला बैल, अब वह नहीं रहा। परिधि फैल गयी। केन्द्र बदला। अपने से अधिक अपनों का हित लगा। माँ का, पिता का, बहन का, भाई का, पुत्र का, पुत्री का, मित्र का, न जाने कितने अपनों का हित इस परिधि में घँसता ही चला गया। इतना ही नहीं, स्वयं का हित इन हितों में विलीन होने लगा। हृदय ने मस्तिष्क की लगाम अपने हाथ में सँभाल ली। मस्तिष्क उसी पूर्ति में जुटा, जिधर हृदय ने संकेत किया। हृदय ने व्यक्ति को समर्पण का पाठ पढ़ाया। समाज हित आगे बढ़ना सिखाया। विकास का एक और स्तर प्राप्त किया उसने। स्वार्थी पशु से वह, समाज साधक बना। समाज हित जीना सीखा।

इसी स्तर पर समाज की गाड़ी ने दौड़ना सीखा, जो असहाय बनी किसी तरह अपने घटकों में जी रही थी। अलग-अलग व्यक्तियों में, अलग-अलग जीवन जी रही थी। वह हृदय की धड़कन चलते ही, बुद्धि के साथ हृदय के जुड़ते ही, सम्बन्धों के उन स्नेहिल धागों से बँधी कि विकास की सीढ़ी पर दौड़ते देर न लगी। अलग-अलग दिखने वाले सब मिल एक बने। प्यार ने छोटों को बाँधा। श्रद्धा ने बड़ों को जोड़ा और भक्ति ने सबको समेट लिया। दूसरों के हित जीने की इस धारा ने समाज का गठित स्वरूप सामने रख दिया।

व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति हुई। उसका विकास हुआ। इस सुखमय स्तर तक वह पहुँचा, उसी के साथ समाज का स्वरूप भी निखरा। यह स्तर, समाज के लिए सर्वाधिक महत्त्व का स्तर बना।

सामाजिक स्तर की यह सर्वोच्च चोटी नहीं। यह तो मात्र समाज बाँधने और सुख साधने की सामान्य स्थिति है। समाज की आवश्यकता है, इस स्थिति को सहज ही प्राप्त करना। आवश्यकता इस स्तर से आगे बढ़ व्यक्ति का ऊँचाई

को छूता है, जहाँ वह सबको अपना ही पाता है। सबका सुख उसका सुख बनता है। सबका दुःख उसका दुःख होता है। आत्मा भला आत्मा से दूर कैसे भागे ? सबमें जब वही विद्यमान है, तो सब में एक ही जीवन-तरंग भी, एक ही अनुभूति भी। जिस तरंग के उठते ही, व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, समष्टि बन जाता है। कुछ भी तो उसका समष्टि से अलग नहीं। सभी का, वह बन जाता है। काया के साथ मस्तिष्क चला, मस्तिष्क को हृदय मिला और हृदय को आत्मा ने आकर पकड़ लिया। संपूर्ण व्यक्ति—काया, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा, समाज का अंग और प्रतिनिधि बन, समर्पण की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। अपने लिये तो जीवन उसका स्वभाव ही नहीं, समष्टि हित ही वह बना है।

कर्म की यात्रा, जो अकर्मण्यता के शून्य बिन्दु से प्रारम्भ हुई, आलस्य और अभाव के आँगन से जो चली, घृणा और तिरस्कार के निकृष्टतम क्रोड़ से जो निकली, अपने लिये शरीर साधना की व्यवस्था में जुटी, तो आलस्य के भागते ही अभाव ने विदाई ली और घृणा, तिरस्कार का पता भी न चला। बुद्धि ने दीक्षा दी तो सम्पन्नता चरण में लोटने लगी, हृदय ने हाथ साधा तो समाज का आँगन सरसता से झूम उठा और पाते ही सम्बल आत्मा का, यात्रा अपने लक्ष्य पर पहुँच गयी, जहाँ सभी कुछ गोपाल का था। स्वार्थ तिरोहित था।

समाज जीवन में, व्यक्ति के विकास-स्तर, इसी यात्रा के पड़ाव हैं। जैसे-जैसे समाज का पथ आगे बढ़ता है, संस्कृति उसे सँभालती है। सभ्यता उसे साधती है। स्तर बढ़ता जाता है। अवश्य ही वह काल रहा होगा, जब प्रकृति ही व्यक्ति को पालती होगी, वह हाथ भी न हिलाता होगा। समय ने उसे श्रम का पाठ सिखाया होगा। विकास ने बुद्धि से नाता जोड़ा होगा और साधन सम्पन्नता से ही अपना सुख आता न देख, समाज में घुलने और मिलने की ललक दौड़ी होगी। इस विकास के जुड़ते ही समस्त विश्व अपना लगा होगा। कुटुम्ब बन गया होगा यह विश्व। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का भाव आचरित होने में देर न लगी होगी।

प्रारम्भ में अपनी ही चिन्ता न रही। कर्मण्यता आयी, परन्तु हित-अनहित की बुद्धि नहीं। कितनों का ही अहित हो, अपना भी अहित हो, पर कर्म न थका। समझ ने साथ दिया, तो अपना हित दिखा, भले ही दूसरों का कितना ही अहित क्यों न हो। संस्कार जुड़ा तो औरों का अहित कर न सका, परन्तु हित अपना ही भाया। संस्कार का हाथ बोध ने थामा तो अपने साथ ही, औरों का भी साधने वाला काल, इसी के पीछे जुड़ा था, बुद्धि से श्रम की गाड़ी हाँकने वाला कृषक और शिल्पकार। जिसके आते ही परिवार, समाज और राज्य का ढाँचा खड़ा हुआ, हृदय की देन थी यह। न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएँ विकसित हुईं। समाज-सेवा

हित, जन-जन की पीड़ा ले, न जाने कितने निकले। ऐसे भी लोग निकले, जो जन-जन को अपना मान, इस विराट् अस्तित्व की सेवा में जुट गये।

आज समाज में ये पाँचों स्तर विद्यमान हैं। अकर्मण्य, बुद्धिहीन और हृदय-शून्य, भिखारी समाज, प्रारम्भिक स्तर पर हैं। मजदूरी करने वाला, मेहनतकश समाज, विकास के प्रथम चरण में है। बुद्धि से अर्जन करने वाला कर्मचारी, व्यापारी, कृषक दूसरी कोटि में हैं। समाज हित सेवा में जुटे, विभिन्न संस्थाओं में कार्यरत लाखों कार्यकर्त्ता तीसरी कोटि में आते हैं। चतुर्थ कोटि में आते हैं वे महा-पुरुष जो अपने लिये न चलते हैं, न करते हैं, न जीते हैं। सभी कुछ समाज हित ही है। ऐसे महापुरुषों का भी अभाव नहीं।

जिस देश और समाज में, समाज हित जीने वाले व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होती है और अकर्मण्य बुद्धिहीनों की संख्या जितनी कम होती है, वह उतना ही सुसंस्कृत और सभ्य समाज होता है।





लेखक

डा० ब्रह्मदत्त अवस्थी

जन्म तिथि : ३० जुलाई १९२७

पुत्र : श्री मुन्शी लाल अवस्थी

निवास : नगलादीना, फतेहगढ़, फर्रुखाबाद

शिक्षा : एम० ए० (भूगोल), एम० ए० (हिन्दी)
पी-एच० डी०, एल-एल० बी०।

प्रकाशन : कैक्टस [नाटक], एक देश एक जन,
राष्ट्रवाद और धर्म निरपेक्षता,
स्वाधीनतोत्तर हिन्दी नाटकों में
लोकतांत्रिक मूल्य [शोध प्रबन्ध]
प्रमुख पत्रिकाओं में निबन्ध लेखन

सामाजिक कार्यकर्ता और विचारक के साथ ही ओजस्वी वक्ता।

वर्तमान में : अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
भारतीय महाविद्यालय, फर्रुखाबाद